कल्याण
मत्स्यपुराणाङ्क
उत्तरार्ध
वर्ष
५६
संख्या
१

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण'के सम्मान्य ग्राहकों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१–'कल्याण'के ५९वें वर्ष (सन् १९८५ ई०)का यह विशेषाङ्क 'मत्स्यपुराणाङ्क' (उत्तरार्ध) पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४३२ पृष्ठोंमें अध्याय १३३ से २२७ के कुछ अंश तककी विषय-सामग्री, क्षमा-प्रार्थना और ८ पृष्ठोंमें विषय-सूची आदि हैं। प्रसङ्गानुसार कई बहुरंगे चित्र भी यथास्थान दिये गये हैं। विशेषाङ्कके इस सीमित कलेवरमें 'मत्स्यपुराण'का सम्पूर्ण उत्तर भाग (मूल एवं अनुवादसहित) समायोजित न हो सकनेके कारण शेषांश—अध्याय २२७ (अपूर्ण) से आगेकी पूर्णसामग्री 'कल्याण' के आगामी कतिपय साधारण अङ्कों (अनुमानतः फरवरी ८५ से मई ८५ तक)में क्रमशः प्रकाशित करनेकी योजना है। सम्पूर्ण ग्रन्थके प्रकाशनकी सम्पन्नताके पश्चात् 'कल्याण'के शेष प्रकाश्य साधारण (मासिक) अङ्कोंमें 'कल्याण'की रीति-नीति और परम्पराके अनुसार विशेषाङ्कसे सम्बद्ध अथवा विषयान्तरित (स्वतन्त्र) आध्यात्मिक सामयिक उद्बोधक लेख तथा रचनाएँ क्रमशः पूर्ववत् प्रकाशित होती रहेंगी।

२–जिन ग्राहक महानुभावोंके मनीआर्डर आ गये हैं, उनको विशेषाङ्क फरवरीके साधारण अङ्कके साथ रजिस्ट्रीद्वारा भेजा जा रहा है। जिनके रुपये प्राप्त नहीं हुए हैं, उनको विशेषाङ्क बचनेपर ही ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार २७.०० (सत्ताईस)रुपये की वी०पी०पी०से भेजा जा सकता है। रजिस्ट्रीकी अपेक्षा वी०पी०पी०द्वारा विशेषाङ्कके भेजनेमें डाकखर्च ३.०० रुपये अधिक लगता है, अत: ग्राहक महानुभावोंसे विनम्र अनुरोध है कि वे वी०पी०पी० की प्रतीक्षा न कर वार्षिक शुल्क-राशि २४.००(चौबीस) रुपयेमात्र कृपया मनीआर्डरद्वारा ही भेजें। इससे उनकी तीन रुपयोंकी बचत होगी।

३–सभी ग्राहकोंको मनीआर्डर-कूपनपर अपनी ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' अवश्य लिखना चाहिये। ऐसा न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है, जिससे आपकी सेवामें 'मत्स्यपुराणाङ्क' (उत्तरार्ध) नयी ग्राहक-संख्याके क्रमसे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्याके क्रमसे इसकी वी०पी०पी० भी यहाँसे जा सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप शुल्क-राशि मनीआर्डरसे भेज दें और उनके यहाँ पहुँचनेके पहले ही आपको इधरसे वी०पी०पी० भी चली जाय। ऐसी स्थितिमें आपसे प्रार्थना है कि आप कृपया वी०पी०पी० लौटायें नहीं; अपितु प्रयत्न करके किन्हीं अन्य सज्जनको 'नया ग्राहक' बनाकर वी०पी०पी०से भेजे गये 'कल्याण'के अङ्क उन्हें दे दें और उनका नाम तथा पूरा पता सुस्पष्ट, सुवाच्य अक्षरोंमें लिखकर हमारे कार्यालयको भेजनेका अनुग्रह करें। आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका 'कल्याण' व्यर्थ डाक-व्ययकी हानिसे बच जायगा और आप 'कल्याण'के पावन प्रचारमें सहायक बनेंगे।

४–विशेषाङ्क–'मत्स्यपुराणाङ्क'का यह उत्तर भाग यद्यपि ग्राहकोंकी सेवामें (शीघ्र और सुरक्षित मिलनेकी दृष्टिसे) रजिस्टर्ड-पोस्टसे भेजा जा रहा है, तथापि यथाशक्य तत्परता और शीघ्रता करनेपर भी ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार सभी ग्राहकोंको अङ्क भेजनेमें लगभग ६-७ सप्ताहका समय तो लग ही सकता है। अतः कुछ ग्राहक महानुभावोंको यदि अङ्क विलम्बसे मिले तो वे अपरिहार्य परिस्थिति समझकर कृपया हमें क्षमा करेंगे।

५–आपके विशेषाङ्कके लिफाफे (या रैपर) पर आपकी ग्राहक-संख्या लिखी गयी है, जिसे कृपया खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी०पी०पी० नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये, जिससे आवश्यकतानुसार इनके उल्लेखसहित पत्र-व्यवहार करनेपर कार्यकी सम्पन्नतामें सुविधा और शीघ्रता होगी एवं व्यर्थमें शक्ति तथा समय नष्ट होनेसे बचेगा।

६–'कल्याण-व्यवस्था-विभाग' एवं गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभागको अलग-अलग समझकर सम्बन्धित पत्र, पार्सल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि पृथक्-पृथक् पतोंपर भेजने चाहिये। पतेकी जगह केवल 'गोरखपुर' ही न लिखकर पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन—२७३००५(उ०प्र०)भी लिखना चाहिये।

व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर–२७३००५ (उ० प्र०)

म० पु० अं० क्र०—

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थरत्न हैं। इनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक—दोनोंमें अपना परम मङ्गल कर सकता है। इनके स्वाध्यायमें वर्ण, आश्रम, जाति, अवस्था आदि कोई भी बाधक नहीं है। आजके समयमें इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है, अतः धर्म-प्राण जनताको इन कल्याणमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुद्देश्यसे 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ'की स्थापना की गयी है। इसके सदस्योंकी संख्या इस समय लगभग पचास हजार है। इसमें श्रीगीताके छः प्रकारके और श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके सदस्य बनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी पूजा अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणी भी है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन एवं उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन परिचय-पुस्तिका निःशुल्क मँगाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमें सम्मिलित होकर अपने जीवनका कल्याणमय पथ उज्ज्वल करें।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, पत्रालय—स्वर्गाश्रम—२४९३०४, (वाया—ऋषिकेश) जिला-पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्मविकासपर ही अवलम्बित है। आत्मविकासके लिये जीवनमें सत्यता, सरलता, निष्कपटता, सदाचार, भगवत्-परायणता आदि दैवी गुणोंका संग्रह और असत्य, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, हिंसा आदि आसुरी लक्षणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग ३७वर्ष पूर्व साधक-संघकी स्थापना की गयी थी। इसका कोई सदस्यता-शुल्क नहीं है। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है, जिन्हें सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको मात्र ४५ पैसे डाक-टिकट या मनीआर्डरद्वारा अग्रिम भेजकर मँगवा लेना चाहिये। साधक उस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। विशेष जानकारीके लिये कृपया निःशुल्क नियमावली मँगवाइये।

पता—संयोजक-'साधक-संघ' द्वारा 'कल्याण-सम्पादकीय-विभाग, पत्रालय—गीताप्रेस, जनपद गोरखपुर—२७३००५ (उ०प्र०)

श्रीगीता-रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस मङ्गलमय एवं दिव्यतम ग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है और जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको भी पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारके द्वारा लोकमानसको अधिकाधिक परिष्कृत करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें बैठनेवाले लगभग बीस हजार परीक्षार्थियोंके लिये ४०० (चार सौ) परीक्षाकेन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर कार्ड भेजें—

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, पत्रालय-स्वर्गाश्रम, पिन—२४९३०४ (वाया—ऋषिकेश) जिला—पौड़ी गढ़वाल (उ०प्र०)

मत्स्यमहापुराणाङ्क (उत्तरार्ध) की विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या

चित्र-सूची

(बहुरंगे-चित्र)

उपदेश

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

वर्ष ५९ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, जनवरी १९८५ ई० { संख्या १
पूर्ण संख्या ६९

शिव-पार्वतीका ध्यान

क्षोणी यस्य रथो रथाङ्गयुगलं चन्द्रार्कबिम्बद्वयं
कोदण्डः कनकाचलो हरिरभूद् बाणो विधिः सारथिः ।
तूणीरो जलधिर्हयाः श्रुतिचयो मौर्वी भुजङ्गाधिप-
स्तस्मिन् मे हृदयं सुखेन रमतां साम्बे परब्रह्मणि ॥

'(त्रिपुरदाहके समय) जिनके लिये पृथ्वी रथ, चन्द्रमा और सूर्य—ये दोनों उस रथके दोनों पहिये, सुमेरुगिरि धनुष, भगवान् विष्णु बाण, ब्रह्मा सारथि, समुद्र तूणीर, चारों वेद घोड़े और वासुकिनाग प्रत्यञ्चा बने, उन परब्रह्मस्वरूप पार्वतीसहित परमेश्वरमें मेरा हृदय सुखपूर्वक रमण करता रहे ।'

मनुद्वारा भगवान् मत्स्यका स्तवन

नैवंवीर्यो जलचरो दृष्टोऽस्माभिः श्रुतोऽपि च । यो भवान् योजनशतमह्नाभिव्यानशे सरः ॥

मनुने कहा—आपने जो एक ही दिनमे चार सौ योजन विस्तारवाले सरोवरको घेर लिया —ऐसे पराक्रमी जलचर जीवको तो हमने न कभी देखा था और न सुना ही था ।

नूनं त्वं भगवान् साक्षाद्धरिर्नारायणोऽव्ययः । अनुग्रहाय भूतानां धत्से रूपं जलौकसाम् ॥

अवश्य ही आप साक्षात् सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी अविनाशी श्रीहरि हैं । आपने जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये जलचरका रूप धारण किया है ।

नमस्ते पुरुषश्रेष्ठ स्थित्युत्पत्त्यप्ययेश्वर । भक्तानां नः प्रपन्नानां मुख्यो ह्यात्मगतिर्विभो ॥

पुरुषोत्तम ! आप जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके स्वामी हैं, आपको नमस्कार है । विभो ! आप हम शरणागत भक्तोंके लिये आत्मा और आश्रय हैं ।

सर्वे लीलावतारास्ते भूतानां भूतिहेतवः । ज्ञातुमिच्छाम्यदो रूपं यदर्थं भवता धृतम् ॥

यद्यपि आपके सभी लीलावतार प्राणियोंके अभ्युदयके लिये ही होते हैं, तथापि आपने यह रूप जिस उद्देश्यसे धारण किया है, उसे मै जानना चाहता हूँ ।

न तेऽरविन्दाक्ष पदोपसर्पणं मृषा भवेत् सर्वसुहृत्प्रियात्मनः ।
यथेतरेषां पृथगात्मनां सतामदीदृशो यद् वपुरद्भुतं हि नः ॥

कमलनयन प्रभो ! जैसे देहादि अनात्मपदार्थोंमे अपनेपनका अभिमान करनेवाले संसारी पुरुषोंका आश्रय व्यर्थ होता है, वैसे आपके चरणोंकी शरण तो व्यर्थ हो नहीं सकती; क्योंकि आप सबके प्रेमी, परम प्रियतम और आत्मा हैं । आपने इस समय हमलोगोंको जो शरीर दिखलाया है, वह बड़ा ही अद्भुत है ।

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा ।
दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यव्रतानां तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि ॥

प्रलयकालीन समुद्रमें जब ब्रह्माजी सो गये थे और उनकी सृष्टि-शक्ति लुप्त हो चुकी थी, उस समय दैत्य हयग्रीवने उनके मुखसे निकली हुई श्रुतियोंका अपहरण कर लिया था, तब जिन्होंने उसे मारकर उन श्रुतियोंको ब्रह्माजीको लौटाया तथा सत्यव्रत और सप्तर्षियोंको ब्रह्मतत्त्वका उपदेश दिया, उन समस्त जगत्के कारणभूत लीलामत्स्य भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ ।

(संकलित—श्रीमद्भा० ८ । २४ । २६–३०, ६१)

एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय

त्रिपुर-विध्वंसार्थ शिवजीके विचित्र रथका निर्माण और देवताओंके साथ उनका युद्धके लिये प्रस्थान

सूत उवाच

ब्रह्माद्यैः स्तूयमानस्तु देवैर्देवो महेश्वरः । प्रजापतिमुवाचेदं देवानां क्व भयं महत् ॥ १ ॥
भो देवाः स्वागतं वोऽस्तु ब्रूत यद् वो मनोगतम् । तावदेव प्रयच्छामि नास्त्यदेयं मया हि वः ॥ २ ॥
युष्माकं नितरां शं वै कर्ताहं विबुधर्षभाः । चरामि महदत्युग्रं यच्चापि परमं तपः ॥ ३ ॥
विद्विष्टा वो मम द्विष्टाः क्रूराः कष्टपराक्रमाः । तेषामभावः सम्पाद्यो युष्माकं भव एव च ॥ ४ ॥
एवमुक्तास्तु देवेन प्रेम्णा सब्रह्मकाः सुराः । रुद्रमाहुर्महाभागं भागार्हाः सर्व एव ते ॥ ५ ॥
भगवंस्तैस्तपस्तप्तं रौद्रं रौद्रपराक्रमैः । असुरैर्वध्यमानाः स्म वयं त्वां शरणं गताः ॥ ६ ॥
मयो नाम दितेः पुत्रस्त्रिनेत्र कलहप्रियः । त्रिपुरं येन तद्दुर्गं कृतं पाण्डुरगोपुरम् ॥ ७ ॥
तदाश्रित्य पुरं दुर्गं दानवा वरनिर्भयाः । बाधन्तेऽस्मान् महादेव प्रेष्यमस्वामिनं यथा ॥ ८ ॥
उद्यानानि च भग्नानि नन्दनादीनि यानि च । वराश्चाप्सरसः सर्वा रम्भाद्या दनुजैर्हृताः ॥ ९ ॥
इन्द्रस्य वाह्याश्च गजाः कुमुदाञ्जनवामनाः । ऐरावताद्यापहृता देवतानां महेश्वर ॥ १० ॥
ये चेन्द्ररथमुख्याश्च हरयोऽपहृतासुरैः । जाताश्च दानवानां ते रथयोग्यास्तुरंगमाः ॥ ११ ॥
ये रथा ये गजाश्चैव याः स्त्रियो वसु यच्च नः । तन्नो व्यपहृतं दैत्यैः संशयो जीविते पुनः ॥ १२ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! ब्रह्मा आदि देवताओं-द्वारा इस प्रकार स्तुति किये जानेपर देवाधिदेव महेश्वरने प्रजापति ब्रह्मासे यह कहा—'अरे ! आप देवताओंको यह महान् भय कहाँसे आया ? देवगण ! आपलोगोंका स्वागत है। आपलोगोंके मनमें जो अभिलाषा हो, उसे कहिये । मैं उसे अवश्य प्रदान करूँगा; क्योंकि आपलोगोंके लिये मुझे कुछ भी अदेय नहीं है । श्रेष्ठ देवगण ! मैं सदा आपलोगोंका कल्याण ही करता रहता हूँ । यहाँतक कि जो महान्, अत्यन्त उग्र एवं घोर तप करता हूँ, वह भी आपलोगोंके लिये ही करता हूँ । जो आपलोगोंसे विद्वेष करते है, वे मेरे भी घोर शत्रु हैं । इसलिये जो आपलोगोंको कष्ट देनेवाले हैं, वे कितने ही घोर पराक्रमी क्यों न हों, मुझे उनका अन्त और आपका श्रेयः सम्पादन करना है ।' महादेवजीद्वारा प्रेमपूर्वक इस प्रकार कहे जानेपर ब्रह्मासहित समस्त भाग्यशाली देवताओंने महाभाग शंकरजीसे कहा—'भगवन् ! भयंकर पराक्रमी उन असुरोंने अत्यन्त भीषण तप किया है, जिसके प्रभावसे वे हमें कष्ट दे रहे हैं । इसलिये हमलोग आपकी शरणमें आये हैं । त्रिलोचन ! (आप तो जानते ही हैं) दितिका पुत्र मय स्वभावतः कलहप्रिय है । उसने ही पीले रंगके फाटकवाले उस त्रिपुर नामक दुर्गका निर्माण किया है । उस त्रिपुरदुर्गका आश्रय लेकर दानव वरदानके प्रभावसे निर्भय हो गये हैं । महादेव ! वे हमलोगोंको इस प्रकार कष्ट दे रहे हैं, मानो अनाथ नौकर हों । उन दानवोंने नन्दन आदि जितने उद्यान थे, उन सबको विनष्ट कर दिया तथा रम्भा आदि सभी श्रेष्ठ अप्सराओंका अपहरण कर लिया । महेश्वर ! वे इन्द्रके वाहन तथा दिशा-गज कुमुद, अञ्जन, वामन और ऐरावत आदि गजेन्द्रोंको भी छीन ले गये । इन्द्रके रथमें जुतनेवाले जो मुख्य अश्व थे, उन्हें भी वे असुर हरण कर ले गये और अब वे घोड़े दानवोंके रथमें जोते जाते हैं । (कहाँतक कहें) हमलोगोंके पास जितने रथ, जितने हाथी, जितनी स्त्रियाँ और जो कुछ भी धन था, हमारा वह सब दैत्योंने अपहरण कर लिया है और अब हमलोगोंके जीवनमें भी संदेह उत्पन्न हो गया है' ॥ १-१२ ॥

त्रिनेत्र एवमुक्तस्तु देवैः शक्रपुरोगमैः। उवाच देवान् देवेशो वरदो वृषवाहनः॥ १३॥
व्यपगच्छतु वो देवा महद् दानवजं भयम्। तदहं त्रिपुरं धक्ष्ये क्रियतां यद् ब्रवीमि तत्॥ १४॥
यदीच्छथ मया दग्धुं तत्पुरं सहदानवम्। रथमौपयिकं मह्यं सज्जयध्वं किमास्यते॥ १५॥
दिग्वाससा तथोक्तास्ते सपितामहकाः सुराः। तथेत्युक्त्वा महादेवं चक्रुस्ते रथमुत्तमम्॥ १६॥
धरां कूवरकौ द्वौ तु रुद्रपार्श्वचरावुभौ। अधिष्ठानं शिरो मेरोरक्षो मन्दर एव च॥ १७॥
चक्रुश्चन्द्रं च सूर्यं च चक्रं काञ्चनराजते। कृष्णपक्षं शुक्लपक्षं पक्षद्वयमपीश्वराः॥ १८॥
रथनेमिद्वयं चक्रुर्देवा ब्रह्मपुरःसराः। आदिद्वयं पक्षयन्त्रं यन्त्रमेताश्च देवताः॥ १९॥
कम्बलाश्वतराभ्यां च नागाभ्यां समवेष्टितम्। भार्गवश्चाङ्गिराश्चैव बुधोऽङ्गारक एव च॥ २०॥
शनैश्चरस्तथा चात्र सर्वे ते देवसत्तमाः। वरूथं गगनं चक्रुश्चारुरूपं रथस्य ते॥ २१॥
कृतं द्विजिह्वनयनं त्रिवेणुं शातकौम्भिकम्। मणिमुक्तेन्द्रनीलैश्च वृतं ह्यष्टमुखैः सुरैः॥ २२॥

इन्द्र आदि देवताओंद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर त्रिनेत्रधारी, वरदायक, वृषवाहन, देवेश्वर शंकरने देवताओंसे कहा—'देवगण! अब आपलोगोंका दानवोंसे उत्पन्न हुआ महान् भय दूर हो जाना चाहिये। मैं उस त्रिपुरको जला डालूँगा, किंतु मैं जो कह रहा हूँ, वैसा उपाय कीजिये। यदि आपलोग मेरेद्वारा दानवोंसहित उस त्रिपुरको जला देनेकी इच्छा रखते हैं तो मेरे लिये समस्त साधनोंसे सम्पन्न एक रथ सुसज्जित कीजिये। अब देर मत कीजिये।' दिग्वासा शंकरजीद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर ब्रह्मासहित उन देवताओंने महादेवजीसे 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली। फिर तो वे एक उत्तम रथका निर्माण करनेमें लग गये। उन्होंने पृथ्वीको रथ, रुद्रके दो पार्श्वचरोंको, दोनो कूबर मेरुको रथका शिरःस्थान और मन्दरको धुरा बनाया। सूर्य और चन्द्रमा रथके सोने-चाँदीके दोनों पहिये बनाये गये। ब्रह्मा आदि ऐश्वर्यशाली देवोंने शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष—दोनोंसे रथकी दोनो नेमियाँ बनायीं। देवताओंने कम्बल और अश्वतर नामक नागोंसे परिवेष्टित कर दोनों बगलके पक्ष-यन्त्र बनाये। शुक्र, बृहस्पति, बुध, मङ्गल तथा शनैश्चर—ये सभी देवश्रेष्ठ उसपर विराजित हुए। उन देवताओंने गगन-मण्डलको रथका सौन्दर्यशाली वरूथ बनाया। सर्पोंके नेत्रोंसे उसका त्रिवेणु बनाया गया, जो सुवर्ण-सा चमक रहा था। वह मणि, मुक्ता और इन्द्रनील मणिके समान आठ प्रधान देवताओंसे घिरा था॥ १३—२२॥

गङ्गा सिन्धुः शतद्रुश्च चन्द्रभागा इरावती। वितस्ता च विपाशा च यमुना गण्डकी तथा॥ २३॥
सरस्वती देविका च तथा च सरयूरपि। एताः सरिद्वराः सर्वा वेणुसंज्ञा कृता रथे॥ २४॥
धृतराष्ट्राश्च ये नागास्ते च रश्म्यात्मकाः कृताः। वासुकेः कुलजा ये च ये च रैवतवंशजाः॥ २५॥
ते सर्पा दर्पसम्पूर्णाश्चापतूणेष्वनूनगाः। अवतस्थुः शरा भूत्वा नानाजातिशुभाननाः॥ २६॥
सुरसा सरमा कद्रूर्विनता शुचिरेव च। तृषा बुभुक्षा सर्वोग्रा मृत्युः सर्वशमस्तथा॥ २७॥
ब्रह्मवध्या च गोवध्या बालवध्या प्रजाभयाः। गदा भूत्वा शक्तयश्च तदा देवरथेऽभ्ययुः॥ २८॥
युगं कृतयुगं चात्र चातुर्होत्रप्रयोजकाः। चतुर्वर्णाः सलीलाश्च बभूवुः स्वर्णकुण्डलाः॥ २९॥
तद्युगं युगसंकाशं रथशीर्षे प्रतिष्ठितम्। धृतराष्ट्रेण नागेन बद्धं बलवता महत्॥ ३०॥
ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदस्तथापरः। वेदाश्चत्वार एवैते चत्वारस्तुरगाऽभवन्॥ ३१॥
अन्नदानपुरोगाणि यानि दानानि कानिचित्। तान्यासन् वाजिनां तेषां भूषणानि सहस्रशः॥ ३२॥

पद्मद्वयं तक्षकश्च कर्कोटकधनंजयौ। नागा बभूवुरेवैते हयानां वालबन्धनाः॥ ३३॥
ओङ्कारप्रभवास्ता वा मन्त्रयज्ञक्रतुक्रियाः। उपद्रवाः प्रतीकाराः पशुबन्धेष्टयस्तथा॥ ३४॥
यज्ञोपवाहान्येतानि तस्मिंल्लोकरथे शुभे। मणिमुक्ताप्रवालैस्तु भूषितानि सहस्रशः॥ ३५॥
प्रतोदोङ्कार एवासीत्तदग्रं च वषट्कृतम्। सिनीवाली कुहू राका तथा चानुमतिः शुभा॥ ३६॥
योक्त्राण्यासंस्तुरङ्गाणामपसर्पणविग्रहाः ॥ ३७॥
कृष्णान्यथ च पीतानि श्वेतमाञ्जिष्ठकानि च। अवदाताः पताकास्तु बभूवुः पवनेरिताः॥ ३८॥
ऋतुभिश्च कृतः षड्भिर्धनुः संवत्सरोऽभवत्। अजरा ज्याभवच्चापि साम्बिका धनुषो दृढा॥ ३९॥
कालो हि भगवान् रुद्रस्तं च संवत्सरं विदुः। तस्मादुमा कालरात्रिर्धनुषो ज्याजराभवत्॥ ४०॥
सगर्भं त्रिपुरं येन दग्धवान् स त्रिलोचनः। स इषुर्विष्णुसोमाग्नित्रिदैवतमयोऽभवत्॥ ४१॥
आननं ह्यग्निरभवच्छल्यं सोमस्तमोनुदः। तेजसः समवायोऽथ चेषोस्तेजो रथाङ्गधृक्॥ ४२॥
तस्मिंश्च वीर्यवृद्ध्यर्थं वासुकिर्नागपार्थिवः। तेजः संवसनार्थं वै मुमोचातिविषो विषम्॥ ४३॥

गङ्गा, सिन्धु, शतद्रु, चन्द्रभागा, इरावती, वितस्ता, विपाशा, यमुना, गण्डकी, सरस्वती, देविका तथा सरयू—इन सभी श्रेष्ठ नदियोंको उस रथमें वेणुस्थानपर नियुक्त किया गया। धृतराष्ट्रके वंशमें उत्पन्न होनेवाले जो नाग थे, वे बाँधनेके लिये रस्सी बने हुए थे। जो वासुकि और रैवतके वंशमें उत्पन्न होनेवाले नाग थे, वे सभी दर्पसे पूर्ण और शीघ्रगामी होनेके कारण नाना प्रकारके सुन्दर मुखवाले बाण बनकर धनुषके तरकसोंमें अवस्थित हुए। सबसे उग्र स्वभाववाली सुरसा, देवशुनी, सरमा, कद्रू, विनता, शुचि, तृषा, बुभुक्षा तथा सबका शमन करनेवाली मृत्यु, ब्रह्महत्या, गोहत्या, बालहत्या और प्रजाभय—ये सभी उस समय गदा और शक्तिका रूप धारण कर उस देवरथमें उपस्थित हुईं। कृतयुगका जूआ बनाया गया। चातुर्होत्र यज्ञके प्रयोजक लीलासहित चारों वर्ण स्वर्णमय कुण्डल हुए। उस युग-सदृश जूएको रथके शीर्षस्थानपर रखा गया और उसे बलवान् धृतराष्ट्र नागद्वारा कसकर बाँध दिया गया। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद—ये चारों वेद चार घोड़े हुए। अन्नदान आदि जितने प्रमुख दान हैं, वे सभी उन घोड़ोंके हजारों प्रकारके आभूषण बने। पद्मद्वय, तक्षक, कर्कोटक, धनंजय—ये नाग उन घोड़ोंके बाल बाँधनेके लिये रस्सी हुए। ओंकारसे उत्पन्न होनेवाली मन्त्र, यज्ञ और क्रतुरूप क्रियाएँ, उपद्रव, उनकी शान्तिके लिये प्रायश्चित्त, पशुबन्ध आदि इष्टियाँ, यज्ञोपवीत आदि संस्कार—ये सभी उस सुन्दर लोकरथमें शोभा-वृद्धिके लिये मणि, मुक्ता और मूँगेके रूपमें उपस्थित हुए। ओंकारका चाबुक बना और वषट्कार उसका अग्रभाग हुआ। सिनीवाली (चतुर्दशीय अमा), कुहू (अमावास्याकी अधिष्ठात्री देवी), राका (शुद्ध पूर्णिमा तिथि) तथा शुभदायिनी अनुमति (प्रतिपद्युक्ता पूर्णिमा)—ये सभी घोड़ोंको रथमें जोतनेके लिये रस्सियाँ और बागडोर बनीं। उसमें काले, पीले, श्वेत और लाल रंगकी निर्मल पताकाएँ लगी थीं, जो वायुके वेगसे फहरा रही थीं। छहो ऋतुओंसहित संवत्सरका धनुष बनाया गया। अम्बिकादेवी उस धनुषकी कभी जीर्ण न होनेवाली सुदृढ़ प्रत्यञ्चा हुईं। भगवान् रुद्र कालस्वरूप हैं। उन्हींको संवत्सर कहा जाता है, इसी कारण अम्बिकादेवी कालरात्रिरूपसे उस धनुषकी कभी न कटनेवाली प्रत्यञ्चा बनीं। त्रिलोचन भगवान् शंकर जिस बाणसे अन्तर्भागसहित त्रिपुरको जलानेवाले थे, वह श्रेष्ठ बाण विष्णु, सोम, अग्नि—इन तीनों देवताओंके संयुक्त तेजसे निर्मित हुआ था। उस बाणका मुख अग्नि और फाल अन्धकारविनाशक चन्द्रमा थे। चक्रधारी विष्णुका तेज समूचे बाणमें व्याप्त था। इस

प्रकार वह बाण तेजका समन्वित रूप था। उस बाणपर स्थिरताके लिये अत्यन्त उग्र विष उगल दिया था नागराज वासुकिने उसके पराक्रमकी वृद्धि एवं तेजकी ॥ २३—४३ ॥

कृत्वा देवा रथं चापि दिव्यं दिव्यप्रभावतः। लोकाधिपतिमभ्येत्य इदं वचनमब्रुवन् ॥ ४४ ॥
संस्कृतोऽयं रथोऽस्माभिस्तव दानवशत्रुजित्। इदमापत्परित्राणं देवान् सेन्द्रपुरोगमान् ॥ ४५ ॥
तं मेरुशिखराकारं त्रैलोक्यरथमुत्तमम्। प्रशस्य देवान् साध्विति रथं पश्यति शंकरः ॥ ४६ ॥
मुहुर्दृष्ट्वा रथं साधु साध्वित्युक्त्वा मुहुर्मुहुः। उवाच सेन्द्रानमरानमराधिपतिः स्वयम् ॥ ४७ ॥
यादृशोऽयं रथः क्लृप्तो युष्माभिर्मम सत्तमाः। ईदृशो रथसम्पत्त्या यन्ता शीघ्रं विधीयताम् ॥ ४८ ॥
इत्युक्ता देवदेवेन देवा विद्धा इवेषुभिः। अवापुर्महतीं चिन्तां कथं कार्यमिति ब्रुवन् ॥ ४९ ॥
महादेवस्य देवोऽन्यः को नाम सदृशो भवेत्। मुक्त्वा चक्रायुधं देवं सोऽप्यस्येषु समाश्रितः ॥ ५० ॥
धुरि युक्ता इवोक्षाणो घट्टन्त इव पर्वतैः। निःश्वसन्तः सुराः सर्वे कथमेतदिति ब्रुवन् ॥ ५१ ॥
देवेष्वाह देवदेवो लोकनाथस्य धूर्गतान्। अहं सारथिरित्युक्त्वा जग्राहाश्वांस्ततोऽग्रजः ॥ ५२ ॥
ततो देवैः सगन्धर्वैः सिंहनादो महान् कृतः। प्रतोदहस्तं सम्प्रेक्ष्य ब्रह्माणं सूततां गतम् ॥ ५३ ॥
भगवानपि विश्वेशो रथस्थे वै पितामहे। सदृशः सूत इत्युक्त्वा चारुरोह रथं हरः ॥ ५४ ॥
आरोहति रथं देवे ह्यश्वा हरभरातुराः। जानुभिः पतिता भूमौ रजोग्रासश्च ग्रासितः ॥ ५५ ॥
देवो दृष्ट्वाथ वेदांस्तानभीरुग्रहयान् भयात्। उज्जहार पितृनार्तान् सुपुत्र इव दुःखितान् ॥ ५६ ॥
ततः सिंहरवो भूयो बभूव रथभैरवः। जयशब्दश्च देवानां सम्बभूवार्णवोपमः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार देवगण दिव्य प्रभावसे उस दिव्य रथका निर्माण कर लोकाधिपति शंकरके निकट जाकर इस प्रकार बोले—'दानवरूप शत्रुओंके विजेता भगवन्! हमलोगोंने आपके लिये इस रथकी रचना की है। यह इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंकी आपत्तिसे रक्षा करेगा।' सुमेरुगिरिके शिखरके समान उस उत्तम त्रैलोक्यरथको देखकर भगवान् शंकरने उसकी प्रशंसा करके देवताओंकी प्रशंसा की और पुनः उस रथका निरीक्षण करने लगे। वे बार-बार रथके प्रत्येक भागको देखते और बार-बार उसकी प्रशंसा करते थे। तत्पश्चात् देवताओंके अधीश्वर स्वयं भगवान् शंकरने इन्द्रसहित देवताओंसे कहा—'देवगण! आपलोगोंने जिस प्रकार मेरे लिये रथकी सारी सामग्रियोंसे युक्त इस रथका निर्माण किया है, इसीकी मर्यादाके अनुकूल शीघ्र ही किसी सारथिका भी विधान कीजिये।' देवाधिदेव शंकरके ऐसा कहनेपर देवगण ऐसे व्याकुल हो गये, मानो वे बाणोंसे बींध दिये गये हों। उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। वे कहने लगे कि अब क्या किया जाय। भला, चक्रधारी भगवान् विष्णुके अतिरिक्त दूसरा कौन देवता महादेवजीके सदृश हो सकता है, किंतु वे तो उनके बाणपर स्थित हो चुके हैं। यह सोचकर जैसे गाड़ीमें जुते हुए बैल पर्वतोंसे टकरा जानेपर हाँफने लगते हैं, वैसे ही सभी देवता लम्बी साँस लेने लगे और कहने लगे कि यह कार्य कैसे सिद्ध होगा? इतनेमें ही उन देवताओंके बीच देवदेव अग्रज ब्रह्मा बोल उठे—'सारथि मैं होऊँगा' ऐसा कहकर उन्होंने लोकनाथ शंकरके रथमें जुते हुए घोड़ोंकी बागडोर पकड़ ली। उस समय ब्रह्माको हाथमें चाबुक लिये हुए सारथिके स्थानपर स्थित देखकर गन्धर्वोंसहित देवताओंने महान् सिंहनाद किया। तदनन्तर पितामह ब्रह्माको रथपर स्थित देखकर विश्वेश्वर भगवान् शंकर 'उपयुक्त सारथि मिला' ऐसा कहकर रथपर आरूढ हुए। भगवान् शंकरके रथपर चढ़ते ही घोड़े उनके भारसे व्याकुल हो गये। वे घुटनोंके बल पृथ्वीपर गिर पड़े और उनके मुखमें धूल भर गयी। इस प्रकार जब

शंकरजीने देखा कि अश्वरूपधारी वेद भयवश भूमिपर गिर पड़े हैं, तब उन्होंने उन्हें उसी प्रकार उठाया, जैसे सुपुत्र आर्त एवं दुःखी पितरोंका उद्धार करता है। तत्पश्चात् रथकी भयंकर घरघराहटके साथ सिंहनाद होने लगा। देवगण समुद्रकी गर्जनाके समान जय-जयकार करने लगे ॥ ४४—५७ ॥

तदोङ्कारमयं गृह्य प्रतोदं वरदः प्रभुः। स्वयम्भूः प्रययौ वाहाननुमन्त्र्य यथाजवम् ॥ ५८ ॥
ग्रसमाना इवाकाशं मुष्णन्त इव मेदिनीम्। मुखेभ्यः ससृजुः श्वासानुच्छ्वसन्त इवोरगाः ॥ ५९ ॥
स्वयम्भुवा चोद्यमानाश्चोदितेन कपर्दिना। व्रजन्ति तेऽश्वा जवनाः क्षयकाल इवानिलाः ॥ ६० ॥
ध्वजोच्छ्रयविनिर्माणे ध्वजयष्टिमनुत्तमाम्। आक्रम्य नन्दीवृषभस्तस्थौ तस्मिञ्छिवेच्छया ॥ ६१ ॥
भार्गवाङ्गिरसौ देवौ दण्डहस्तौ रविप्रभौ। रथचक्रे तु रक्षेते रुद्रस्य प्रियकाङ्क्षिणौ ॥ ६२ ॥
शेषश्च भगवान् नागोऽनन्तोऽनन्तकरोऽरिणाम्। शरहस्तो रथं पाति शयनं ब्रह्मणस्तदा ॥ ६३ ॥
यमस्तूर्णं समास्थाय महिषं चातिदारुणम्। द्रविणाधिपतिर्व्यालं सुराणामधिपो द्विपम् ॥ ६४ ॥
मयूरं शतचन्द्रं च कूजन्तं किंनरं यथा। गुह आस्थाय वरदो जुगोप तं रथं पितुः ॥ ६५ ॥
नन्दीश्वरश्च भगवाञ्शूलमादाय दीप्तिमान्। पृष्ठतश्चापि पार्श्वाभ्यां लोकस्य क्षयकृद् यथा ॥ ६६ ॥
प्रमथाश्चाग्निवर्णाभाः साग्निज्वाला इवाचलाः। अनुजग्मू रथं शार्वं नक्रा इव महार्णवम् ॥ ६७ ॥
भृगुर्भरद्वाजवसिष्ठगौतमाः क्रतुः पुलस्त्यः पुलहस्तपोधनाः।
मरीचिरत्रिर्भगवानथाङ्गिराः पराशरागस्त्यमुखा महर्षयः ॥ ६८ ॥
हरमजितमजं प्रतुष्टुवुर्वचनविशेषैर्विचित्रभूषणैः।
रथस्त्रिपुरे सकाञ्चनाचलो व्रजति सपक्ष इवाद्रिरम्बरे ॥ ६९ ॥
करिगिरिरविमेघसंनिभाः सजलपयोदनिनादनादिनः।
प्रमथगणाः परिवार्य देवगुप्तं रथमभितः प्रययुः स्वदर्पयुक्ताः ॥ ७० ॥
मकरतिमितिमिंगिलावृतः प्रलय इवातिसमुद्धतोऽर्णवः।
व्रजति रथवरोऽतिभास्वरो ह्यशनिनिपातपयोदनिःस्वनः ॥ ७१ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरदाहे रथप्रयाणं नाम त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

तदनन्तर सामर्थ्यशाली वरदायक ब्रह्मा ओंकारमय चाबुकको हाथमें लेकर घोड़ोंको पुचकारते हुए पूर्ण वेगसे आगे बढ़े। फिर तो वे घोड़े पृथ्वीको अपने साथ समेटते तथा आकाशको ग्रसते हुएकी तरह बड़े वेगसे दौड़ने लगे। उनके मुखोंसे ऐसे दीर्घ निःश्वास निकल रहे थे, मानो फुफकारते हुए सर्प हों। शंकरजीकी प्रेरणासे ब्रह्माद्वारा हाँके जाते हुए वे घोड़े प्रलयकालिक वायुकी तरह अत्यन्त वेगसे दौड़ रहे थे। शिवजीकी इच्छासे उस रथमें ध्वजको ऊँचा उठानेमें निपुण नन्दी वृषभ उस अनुपम ध्वजयष्टिके ऊपर स्थित हुए। सूर्यके समान प्रभावशाली शुक्र और बृहस्पति—ये दोनों देवता हाथमें दण्ड धारण करके रुद्रका प्रिय करनेकी इच्छासे रथके पहियोंकी रक्षा कर रहे थे। उस समय शत्रुओंका समूल विनाश करनेवाले अनन्त भगवान् शेषनाग हाथमें बाण धारण कर रथकी तथा ब्रह्माके आसनकी रक्षामें जुटे हुए थे। यमराज तुरत अपने अत्यन्त भयंकर भैंसेपर, कुबेर साँपपर और देवराज इन्द्र ऐरावत हाथीपर चढ़कर आगे बढ़े। वरदायक गुह कार्तिकेय सैकड़ों चन्द्रवाले तथा किंनरकी भाँति कूजते हुए अपने मयूरपर सवार होकर पिताके उस रथकी रक्षा कर रहे थे। तेजस्वी भगवान् नन्दीश्वर शूल लेकर रथके पीछेसे दोनों पार्श्वभागोंकी रक्षा करते थे। उस समय वे ऐसा प्रतीत होते थे, मानो लोकका विनाश कर देना चाहते हों। अग्निके समान कान्तिमान् प्रमथगण, जो अग्निकी लपटोंसे युक्त पर्वत-सदृश दीख रहे थे, शंकरजीके रथके पीछे चलते हुए ऐसे लगते

थे जैसे महासागरमें नाकगण तैर रहे हों । भृगु, भरद्वाज, वसिष्ठ, गौतम, क्रतु, पुलस्त्य, पुलह, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पराशर, अगस्त्य—ये सभी तपस्वी एवं ऐश्वर्यशाली महर्षि विचित्र छन्दालंकारोंसे विभूषित उत्कृष्ट वचनोंद्वारा अजन्मा एवं अजेय शंकरकी स्तुति कर रहे थे । सुमेरुगिरिके सहयोगसे सम्पन्न हुआ वह रथ आकाशमें विचरनेवाले पंखधारी पर्वतकी तरह त्रिपुरकी ओर बढ़ रहा था । हाथी, पर्वत, सूर्य और मेघके समान कान्तिवाले प्रमथगण जलधर बादलकी भाँति गर्जना करते हुए बड़े गर्वके साथ देवताओंद्वारा सब ओरसे सुरक्षित उस रथके पीछे-पीछे चल रहे थे । वह अत्यन्त उद्दीप्त श्रेष्ठ रथ प्रलयकालमें मकर, तिमि (एक प्रकारके महामत्स्य, और तिमिंगिलों (उसे निगलनेवाले महामत्स्य) से व्याप्त भयंकर रूपसे उमड़े हुए समुद्रकी तरह आगे बढ़ रहा था । उससे वज्रपातकी तरह गड़गड़ाहट और बादलकी गर्जनाके सदृश शब्द हो रहा था ॥ ५८—७१ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके त्रिपुरदाह-प्रसङ्गमें रथप्रयाण नामक एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३३ ॥

एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय

देवताओंसहित शंकरजीका त्रिपुरपर आक्रमण, त्रिपुरमें देवर्षि नारदका आगमन तथा युद्धार्थ असुरोंकी तैयारी

सूत उवाच

पूज्यमाने रथे तस्मिँल्लोकैर्देवे रथे स्थिते । प्रमथेषु नदत्सूग्रं प्रवदत्सु च साध्विति ॥ १ ॥
ईश्वरस्वरघोषेण नर्दमाने महावृषे । जयत्सु विप्रेषु तथा गर्जत्सु तुरगेषु च ॥ २ ॥
रणाङ्गणात् समुत्पत्य देवर्षिर्नारदः प्रभुः । कान्त्या चन्द्रोपमस्तूर्णं त्रिपुरं पुरमागतः ॥ ३ ॥
औत्पातिकं तु दैत्यानां त्रिपुरे वर्तते ध्रुवम् । नारदश्चात्र भगवान् प्रादुर्भूतस्तपोधनः ॥ ४ ॥
आगतं जलदाभासं समेताः सर्वदानवाः । उत्तस्थुर्नारदं दृष्ट्वा अभिवादनवादिनः ॥ ५ ॥
तमर्घ्येण च पाद्येन मधुपर्केण चेश्वराः । नारदं पूजयामासुर्ब्रह्माणमिव वासवः ॥ ६ ॥
तेषां स पूजां पूजार्हः प्रतिगृह्य तपोधनः । नारदः सुखमासीनः काञ्चने परमासने ॥ ७ ॥
मयस्तु सुखमासीने नारदे नारदोद्भवे । यथार्हं दानवैः सार्धमासीनो दानवाधिपः ॥ ८ ॥
आसीनं नारदं प्रेक्ष्य मयस्त्वथ महासुरः । अब्रवीद् वचनं तुष्टो हृष्टरोमाननेक्षणः ॥ ९ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! इस प्रकार उस लोक-पूजित रथपर आरूढ होकर जब महादेवजी त्रिपुरपर आक्रमण करनेके लिये प्रस्थित हुए, उस समय प्रमथगण 'ठीक है, ठीक है' ऐसा कहते हुए उच्च स्वरसे सिंहनाद करने लगे । महान् वृषभ नन्दी भी शंकरजीके सदृश स्वरमें गर्जना करने लगा । यूथ-के-यूथ विप्र जय-जयकार बोलने लगे तथा घोड़े हींसने लगे । इसी समय चन्द्र-तुल्य कान्तिवाले सामर्थ्यशाली देवर्षि नारद युद्धस्थलसे उछल-कर तुरंत त्रिपुर नामक नगरमें जा पहुँचे । दैत्योंके उस त्रिपुरमें निश्चितरूपसे उत्पात हो रहे थे । वहाँ तपस्वी भगवान् नारद सहसा प्रकट हो गये । श्वेत मेघकी-सी प्रभावाले नारदजीको आया हुआ देखकर सभी दानव एक साथ अभिवादन करते हुए उठ खड़े हुए । तत्पश्चात् उन ऐश्वर्यशाली दानवोंने पाद्य, अर्घ्य और मधुपर्कद्वारा नारदजीकी उसी प्रकार पूजा की, जैसे इन्द्र ब्रह्माकी अर्चना करते हैं । तब पूजनीय

तपस्वी नारदजी उनकी पूजा स्वीकार कर स्वर्णनिर्मित श्रेष्ठ आसनपर सुखपूर्वक विराजमान हुए। इस प्रकार ब्रह्मपुत्र नारदके सुखपूर्वक बैठ जानेपर दानवराज मय भी सभी दानवोंके साथ यथायोग्य आसनपर बैठ गया। इस तरह नारदजीको वहाँ सुखपूर्वक बैठे देखकर महासुर मयको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह हर्षसे रोमाञ्चित हो उठा, उसके मुख एवं नेत्र प्रसन्नतासे खिल उठे, उसने नारदजीसे ये बातें कहीं ॥ १-९ ॥

औत्पातिकं पुरेऽस्माकं यथा नान्यत्र कुत्रचित्। वर्तते वर्तमानज्ञ वद त्वं हि च नारद ॥ १० ॥
दृश्यन्ते भयदाः स्वप्ना भज्यन्ते च ध्वजाः परम्। विना च वायुना केतुः पतते च तथा भुवि ॥ ११ ॥
अट्टालकाश्च नृत्यन्ते सपताकाः सगोपुराः। हिंस हिंसेति श्रूयन्ते गिरश्च भयदाः पुरे ॥ १२ ॥
नाहं बिभेमि देवानां सेन्द्राणामपि नारद। मुक्त्वैकं वरदं स्थाणुं भक्ताभयकरं हरम् ॥ १३ ॥
भगवन् नास्त्यविदितमुत्पातेषु तवानघ। अनागतमतीतं च भवाञ्जानाति तत्त्वतः ॥ १४ ॥
तदेतन्नो भयस्थानमुत्पाताभिनिवेदितम्। कथयस्व मुनिश्रेष्ठ प्रपन्नस्य तु नारद ॥ १५ ॥
इत्युक्तो नारदस्तेन मयेनामयवर्जितः ॥ १६ ॥

मयने नारदजीसे कहा—'नारदजी! आप तो (भूत-भव्य और) वर्तमानकी सारी बातोंके ज्ञाता हैं, अतः आप यह बतलाइये कि हमारे पुरमें जैसा उत्पात हो रहा है, वैसा सम्भवतः अन्यत्र कहीं भी नहीं होता होगा। (ऐसा क्यों हो रहा है?) यहाँ भयदायक स्वप्न दीख पड़ते हैं। ध्वजाएँ अकस्मात् टूटकर गिर रही है। वायुका स्पर्श न होनेपर भी पताकाएँ पृथ्वीपर गिर रही हैं। पताकाओं और फाटकों-सहित अट्टालिकाएँ नाचती-सी (काँपती-सी) दीखती हैं। नगरमें 'मार डालो, मार डालो' ऐसे भयावने शब्द सुननेमें आ रहे हैं। (इतना होनेपर भी) नारदजी! भक्तोंको अभय प्रदान करनेवाले स्थाणुस्वरूप वरदायक एकमात्र शंकरजीको छोड़कर मुझे इन्द्रसहित समस्त देवताओंसे भी कुछ भय नहीं है। निष्पाप भगवन्! इन उपद्रवोंके विषयमें आपसे कुछ छिपा तो है नहीं; क्योंकि आप तो (पूर्वोक्त वर्तमानके अतिरिक्त) भूत और भविष्यके भी यथार्थ ज्ञाता हैं। मुनिश्रेष्ठ! ये उत्पात हमलोगोंके लिये भयके स्थान बन गये हैं, जिन्हें मैंने आपसे निवेदित कर दिया है। नारदजी! मै आपके शरणागत हूँ, कृपया इसका कारण बतलाइये।' इस प्रकार मय दानवने अविनाशी नारदजीसे प्रार्थना की॥ १०-१६ ॥

नारद उवाच

शृणु दानव तत्त्वेन भवन्त्यौत्पातिका यथा।
धर्मेति धारणे धातुर्माहात्म्ये चैव पठ्यते। धारणाच्च महत्त्वेन धर्म एष निरुच्यते ॥ १७ ॥
स इष्टप्रापको धर्म आचार्यैरुपदिश्यते। इतरश्चानिष्टफलं आचार्यैर्नोपदिश्यते ॥ १८ ॥
उत्पथान्मार्गमागच्छेन्मार्गाच्चैव विमार्गताम्। विनाशस्तस्य निर्देश्य इति वेदविदो विदुः ॥ १९ ॥
स स्वधर्म रथारूढः सहैभिर्मत्तदानवैः। अपकारिषु देवानां कुरुषे त्वं सहायताम् ॥ २० ॥
तदेतान्येवमादीनि उत्पातावेदितानि च। वैनाशिकानि दृश्यन्ते दानवानां तथैव च ॥ २१ ॥
एष रुद्रः समास्थाय महालोकमयं रथम्। आयाति त्रिपुरं हन्तुं मय त्वामसुरानपि ॥ २२ ॥
स त्वं महौजसं नित्यं प्रपद्यस्व महेश्वरम्। यास्यसे सह पुत्रेण दानवैः सह मानद ॥ २३ ॥
इत्येवमावेद्य भयं दानवोपस्थितं महत्। दानवानां पुनर्देवो देवेशपदमागतः ॥ २४ ॥

(तब) नारदजी बोले—दानवराज! जिस कारण ये उत्पात हो रहे है, उन्हें यथार्थरूपसे बतला रहा हूँ, सुनो। 'धृ' धातु धारण-पोषण और महत्त्वके अर्थमें प्रयुक्त होती है। इसी धातुसे धर्म शब्द निष्पन्न हुआ है, अतः महत्त्वपूर्वक धारण करनेसे यह शब्द धर्म कहलाता है। आचार्यगण इष्टकी प्राप्ति करानेवाले इसी धर्मका

उपदेश करते हैं। इसके विपरीत अधर्म अनिष्ट फल देनेवाला है, अतः आचार्यगण उसे ग्रहण करनेका आदेश नहीं देते। वेदज्ञोंका कथन है कि मनुष्यको उन्मार्गसे सुमार्गपर आना चाहिये, क्योंकि जो सुमार्गसे उन्मार्गपर चलते हैं, उनका विनाश तो निश्चित ही है। तुम इन उन्मत्त दानवोंके साथ महान् अधर्मके रथपर आरूढ़ होकर देवताओंका अपकार करनेवालोंकी सहायता करते हो। इसलिये इन सभी उत्पातों द्वारा सूचित अपशकुन दानवोंके विनाशके सूचक हैं। मय! भगवान् रुद्र महाक्रोधमय रथपर सवार होकर त्रिपुरका, तुम्हारा और समस्त असुरोंका भी विनाश करनेके लिये आ रहे हैं। इसलिये मानद! (तुम्हारे लिये यही अच्छा होगा कि) तुम महान् ओजस्वी एवं अविनाशी महेश्वरकी शरण ग्रहण कर लो, अन्यथा तुम पुत्रों और दानवोंके साथ यमलोकके पथिक बन जाओगे। इस प्रकार देवर्षि नारद दानवोंको उनके ऊपर आये हुए महान् भयकी सूचना देकर पुनः देवेश्वर शंकरजीके पास लौट आये ॥ १७–२४ ॥

नारदे तु मुनौ याते मयो दानवनायकः। शूरसम्मतमित्येवं दानवानाह दानवः ॥ २५ ॥
शूराः स्थ जातपुत्राः स्थ कृतकृत्याः स्थ दानवाः। युध्यध्वं दैवतैः सार्धं कर्त्तव्यं चापि नो भयम् ॥ २६ ॥
जित्वा वयं भविष्यामः सर्वेऽमरसभासदः। देवांश्च सेन्द्रकान् हत्वा लोकान् भोक्ष्यामहेऽसुराः ॥ २७ ॥
अट्टालकेषु च तथा तिष्ठध्वं शस्त्रपाणयः। दंशिता युद्धसज्जाश्च तिष्ठध्वं प्रोद्यतायुधाः ॥ २८ ॥
पुराणि त्रीणि चैतानि यथास्थानेषु दानवाः। तिष्ठध्वं लङ्घनीयानि भविष्यन्ति पुराणि च ॥ २९ ॥
नभोगतास्तथा शूरा देवता विदिता हि वः। ताः प्रयत्नेन वार्याश्च विदार्याश्चैव सायकैः ॥ ३० ॥

इति दनुतनयान्मयस्तथोक्त्वा सुरगणवारणवारणे वचांसि।
युवतिजनविषण्णमानसं तत्त्रिपुरपुरं सहसा विवेश राजा ॥ ३१ ॥
अथ रजतविशुद्धभावभावो भवमभिपूज्य दिगम्बरं सुगीर्भिः।
शरणमुपजगाम देवदेवं मदनार्यन्धकयज्ञदेहघातम् ॥ ३२ ॥
मयमभयपदैषिणं प्रपन्नं न किल बुबोध तृतीयदृक्सनेत्रः।
तदभिमतमदात् ततः शशाङ्की स च किल निर्भय एव दानवोऽभूत् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरदाहे नारदगमनं नाम चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥

इधर नारद मुनिके चले जानेपर दानवराज मयदानवने (वहाँ उपस्थित) सभी दानवोंसे इस प्रकार शूर-सम्मत वचन कहना आरम्भ किया—'दानवो! तुमलोग शूर-वीर हो, पुत्रवान् हो और (जीवनमें सुखका उपभोग करके) कृतकृत्य हो चुके हो, अतः देवताओंके साथ डटकर युद्ध करो। इसमें तुमलोगोंको किसी प्रकारका भय नहीं मानना चाहिये। असुरो! देवताओंको जीतकर हमलोग देव-सभाके सभासद हो जायँगे, अर्थात् देव-सभा अपने अधिकारमें आ जायगी। तब इन्द्रसहित देवताओंका वध करके हमलोग लोकोंका उपभोग करेंगे। तुमलोग युद्धकी साज-सजासे विभूषित हो कवच धारण कर लो और हथियार लेकर तैयार हो जाओ तथा हाथमें शस्त्र धारण कर अट्टालिकाओंपर चढ़ जाओ। दानवो! तुमलोग इन तीनों पुरोंपर यथास्थान (सजग होकर) बैठ जाओ; क्योंकि देवगण इन तीनों पुरोंपर आक्रमण करेंगे। शूरवीरो! यदि देवता आकाशमार्गसे धावा करें तो तुमलोग तो उन्हें पहचानते ही हो, तुरंत उन्हें प्रयत्नपूर्वक रोक दो और बाणोंके प्रहारसे विदीर्ण कर दो।' इस प्रकार दानवराज मय दनु-पुत्रोंसे सुरगणरूपी हाथियोंको रोकनेके लिये बातें बताकर सहसा उस त्रिपुर-पुरमें प्रविष्ट हुआ, जहाँकी स्त्रियोंका मन भयके कारण उद्विग्न हो उठा था। तदनन्तर वह चाँदीके समान निर्मल भावसे भावित होकर सुन्दर

वाणीद्वारा दिगम्बर भगवान् शंकरकी पूजा करके उन कामदेवके शत्रु तथा अन्धक और दक्ष-यज्ञके विनाशक देवदेवेश्वरकी शरणमें गया। यद्यपि शंकरजीके तृतीय नेत्रमें उद्दीप्त अग्निका वास है, तथापि उन चन्द्रशेखरके ध्यानमें यह बात न आयी कि यह मय दानव शरणागत होकर अभयपद प्राप्त करना चाहता है, अतः उन्होंने उसे अभीष्ट वरदान दे दिया, जिससे वह दानव निर्भय हो गया और आगसे भी सुरक्षित रहकर जीवित बच गया॥ २५-३३॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके त्रिपुरदाह-प्रसङ्गमें नारदगमन नामक एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ १३४॥

एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय

शंकरजीकी आज्ञासे इन्द्रका त्रिपुरपर आक्रमण, दोनों सेनाओंमें भीषण संग्राम, विद्युन्मालीका वध, देवताओंकी विजय और दानवोंका युद्ध-विमुख होकर त्रिपुरमें प्रवेश

सूत उवाच

ततो रणे देवबलं नारदोऽभ्यगमत् पुनः। आगत्य चैव त्रिपुरात् सभायामास्थितः स्वयम्॥ १॥
इलावृतमिति ख्यातं तद्वर्षं विस्तृतायतम्। यत्र यज्ञो बलेर्वृत्तो बलिर्यत्र च संयतः॥ २॥
देवानां जन्मभूमिर्या त्रिषु लोकेषु विश्रुता। विवाहाः क्रतवश्चैव जातकर्मादिकाः क्रियाः॥ ३॥
देवानां यत्र वृत्तानि कन्यादानानि यानि च। रेमे नित्यं भवो यत्र सहायैः पार्षदैर्गणैः॥ ४॥
लोकपालाः सदा यत्र तस्थुर्मेरुगिरौ यथा।
मधुपिङ्गलनेत्रस्तु चन्द्रावयवभूषणः। देवानामधिपं प्राह गणपांश्च महेश्वरः॥ ५॥
वासवैतद्वरीणां ते त्रिपुरं परिदृश्यते। विमानैश्च पताकाभिर्ध्वजैश्च समलंकृतम्॥ ६॥
दृढं वृत्तमिदं ख्यातं वह्निवद् भृशतापनम्। एते जना गिरिप्रख्याः सकुण्डलकिरीटिनः॥ ७॥
प्राकारगोपुराट्टेषु कक्षान्ते दानवाः स्थिताः। इमे च तोयदाभासा दनुजा विकृताननाः॥ ८॥
निर्गच्छन्ति पुरो दैत्याः सायुधा विजयैषिणः॥ ९॥
स त्वं सुरशतैः सार्धं ससहायो वरायुधः। सुहृद्भिर्मामकैर्भृत्यैर्व्यापादय महासुरान्॥ १०॥
अहं च रथवर्येण निश्चलाचलवत्स्थितः। पुरः पुरस्य रन्ध्रार्थी स्थास्यामि विजयाय वः॥ ११॥
यदा तु पुष्ययोगेन एकत्वं स्थास्यते परम्। तदेतन्निर्दहिष्यामि शरेणैकेन वासव॥ १२॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! तदनन्तर नारदजी त्रिपुरसे लौटकर पुनः युद्धस्थलमें देवताओंकी सेनामें सम्मिलित हो गये। वे स्वयं देव-सभामें उपस्थित हुए। इलावृत्त नामसे विख्यात विस्तृत वर्ष, जहाँ बलिका यज्ञ सम्पन्न हुआ था तथा जहाँ बलि बाँधे गये थे, तीनों लोकोंमें देवताओंकी जन्मभूमिके रूपमें प्रसिद्ध है। उसी इलावृतमें देवताओंके जातकर्म आदि संस्कार तथा यज्ञ और कन्यादान आदि कर्म सम्पन्न हुए हैं, यहाँ भगवान् शंकर अपने पार्षदगणोंको साथ लेकर नित्य विहार करते हैं, यहाँ लोकपालगण मेरुगिरिकी तरह सदा निवास करते हैं, इसी स्थानपर जिनके नेत्र मधुके समान पीले रंगके हैं तथा जो द्वितीयाके चन्द्रमाको भूषणरूपमें धारण करते हैं, उन्हीं भगवान् महेश्वरने देवराज इन्द्र और अपने गणेश्वरोंसे इस प्रकार कहा—'इन्द्र! तुम्हारे शत्रुओंका यह त्रिपुर दिखायी पड़ रहा है। यह विमानों, पताकाओं और ध्वजोंसे सुशोभित है। यह सुदृढ़ है तथा इसके विषयमें ऐसी प्रसिद्धि है कि यह अग्निकी तरह अत्यन्त तापदायक है। इसके निवासी दानव किरीट-कुण्डल धारण किये हुए पर्वतके समान दीख रहे हैं। इन दानवोंकी अङ्ग-कान्ति

बादलकी-सी है और इनके मुख टेढ़े-मेढ़े हैं। ये सभी परकोटे, फाटकों और अट्टालिकाओंपर तथा कक्षान्तमें स्थित हैं। (वह देखो) वे सभी दैत्य विजयकी अभिलाषासे हथियारोंसे सुसज्जित हो नगरसे बाहर निकल रहे हैं। इसलिये तुम सहायकोंसहित अपना श्रेष्ठ अस्त्र वज्र लेकर सैकड़ों देवताओं तथा मेरे भृत्योंके साथ आगे बढ़कर इन महासुरोंका संहार करो। मैं इस श्रेष्ठ रथपर निश्चल पर्वतकी तरह स्थित रहकर तुमलोगोंकी विजयके लिये त्रिपुरके सम्मुख उसके छिद्रकी खोजमें खड़ा रहूँगा। वासव! जब पुष्य-नक्षत्रके सम्बन्धमें ये तीनों पुर एक स्थानपर स्थित होंगे, तब मैं एक ही बाणसे इन्हें दग्ध कर डालूँगा' ॥ १-१२ ॥

इत्युक्तो वै भगवता रुद्रेणेह सुरेश्वरः। ययौ तत्त्रिपुरं जेतुं तेन सैन्येन संवृतः ॥ १३ ॥
प्रक्रान्तरथभीमैस्तैः सदेवैः पार्षदां गणैः। कुर्वत्सिंहरवोपेतैरुद्गच्छद्भिरिवाम्बुदैः ॥ १४ ॥
तेन नादेन त्रिपुराद् दानवा युद्धलालसाः। उत्पत्य तुतुदुश्चेलुः सायुधास्ते गणेश्वरान् ॥ १५ ॥
अन्ये पयोधराराबाः पयोधरसमा बभुः। ससिंहनादं वादित्रं वादयामासुरुद्धताः ॥ १६ ॥
देवानां सिंहनादश्च सर्वतूर्यरवो महान्। ग्रस्तोऽभूद् दैत्यनादेन चन्द्रस्तोयधरैरिव ॥ १७ ॥
चन्द्रोदयात् समुद्धूतः पौर्णमास इवार्णवः। त्रिपुरं प्रभवत् तद्वद् भीमरूपमहासुरैः ॥ १८ ॥
प्राकारेषु पुरे तत्र गोपुरेष्वपि चापरे। अट्टालकान् समारुह्य केचिच्चलितवादिनः ॥ १९ ॥
स्वर्णमालाधराः शूराः प्रभासितवराम्बराः। केचिन्नदन्ति दनुजास्तोयमत्ता इवाम्बुदाः ॥ २० ॥
इतश्चेतश्च धावन्तः केचिदुद्धतवाससः। किमेतदिति पप्रच्छुरन्योऽन्यं गृहमाश्रिताः ॥ २१ ॥
किमेतन्नैनं जानामि ज्ञानमन्तर्हितं हि मे। ज्ञास्यसेऽनन्तरेणेति कालो विस्तारतो महान् ॥ २२ ॥
सोऽप्यसौ पृथ्वीसारं सिंहश्च रथमास्थितः। तिष्ठते त्रिपुरं पीड्य देहव्याधिरिवोच्छ्रितः ॥ २३ ॥
य एषोऽस्ति स एषोऽस्तु का चिन्ता सम्भ्रमे सति। एहि ह्यायुधमादाय क्व मे पृच्छा भविष्यति ॥ २४ ॥
इति तेऽन्योन्यमाविद्धा उत्तरोत्तरभाषिणः। आसाद्य पृच्छन्ति तदा दानवास्त्रिपुरालयाः ॥ २५ ॥

भगवान् रुद्रद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर देवराज इन्द्र उस विशाल सेनाके साथ उस त्रिपुरको जीतनेके लिये आगे बढ़े। चलते समय देवताओं और पार्षद्गणोंके रथोंसे भीषण शब्द हो रहा था और वे सभी मेघकी गर्जनाके समान सिंहनाद कर रहे थे। उस शब्दको सुनकर दानवगण युद्धकी लालसासे अस्त्र लेकर त्रिपुरसे बाहर निकले और आकाशमें छलाँग मारते हुए गणेश्वरोंपर टूट पड़े। उनमें कुछ अन्य उद्दण्ड दानव, जो काले मेघके समान शोभा पा रहे थे, मेघकी तरह गर्जना कर रहे थे और सिंहनाद करते हुए बाजा बजा रहे थे। उस समय दैत्योंके सिंहनादसे देवताओंका सिंहनाद और सभी प्रकारके तुरही आदि बाजोंका महान् शब्द उसी प्रकार अभिभूत हो गया, जैसे बादलोंके बीच चन्द्रमा छिप जाते हैं। जैसे चन्द्रमाके उदय होनेपर पूर्णिमा तिथिको समुद्र वृद्धिगत हो जाता है, वैसे ही उन भयंकर रूपवाले महान् असुरोंसे त्रिपुर उद्दीप्त हो उठा। उस पुरमें कुछ दानव परकोटेपर तथा कुछ फाटकों और अट्टालिकाओंपर चढ़कर 'चलो, निकलो' ऐसा कहकर ललकार रहे थे। कुछ शूर-वीर दानव सुन्दर एवं श्रेष्ठ वस्त्र धारण किये हुए थे, उनके गलेमें स्वर्णकी जंजीर शोभा पा रही थी और वे जलसे भरे हुए बादलकी भाँति सिंहनाद कर रहे थे। कुछ वस्त्र फहराते हुए इधर-उधर दौड़ रहे थे और घर आकर परस्पर एक-दूसरेसे पूछ रहे थे—'यह क्या हो रहा है ?' (दूसरा उत्तर देता था कि) 'क्या हो रहा है, यह तो मैं नहीं जानता; क्योंकि उसकी जानकारी मुझसे छिपी हुई है। कुछ समयके बाद तुम्हें भी ज्ञात हो जायगा। अभी तो बहुत समय शेष है। (देखो न) वहाँ पृथ्वीके सारभूत रथपर बैठा हुआ वह जो सिंह खड़ा है, वह त्रिपुरको उसी प्रकार पीड़ा दे रहा है, जैसे बढ़ी हुई व्याधि शरीरको कष्ट

*

देती है। वह जो हो, सो रहे; ऐसे हलचलके उपस्थित होनेपर चिन्ता करना व्यर्थ है। अब हथियार लेकर मैदानमें आ जाओ, फिर मुझसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी।' उस समय त्रिपुरनिवासी दानव परस्पर एक-दूसरेको पकड़कर इसी प्रकार पूछते थे और परस्पर उत्तर-प्रत्युत्तर देते थे ॥ १२—२५ ॥

तारकाख्यपुरे दैत्यास्तारकाख्यपुरःसराः। निर्गताः कुपितास्तूर्ण विलादिव महारगाः ॥ २६ ॥
निर्धावन्तस्तु ते दैत्याः प्रमथाधिपयूथपैः। निरुद्धा गजराजानो यथा केसरियूथपैः ॥ २७ ॥
दर्पितानां ततश्चैषां दर्पितानामिवाग्निनाम्। रूपाणि जज्वलुस्तेषामग्नीनामिव धम्यताम् ॥ २८ ॥
ततो बृहन्ति चापानि भीमनादानि सर्वशः। निकृष्य जघ्नुरन्योन्यमिषुभिः प्राणभोजनैः ॥ २९ ॥
मार्जारमृगभीमास्यान् पार्षदान् विकृताननान्। दृष्ट्वा दृष्ट्वा हसन्त्युच्चैर्दानवा रूपसम्पदाः ॥ ३० ॥
बाहुभिः परिघाकारैः कृष्यतां धनुषां शराः। भटवर्मसु विविशुस्तडागानीव पक्षिणः ॥ ३१ ॥
मृताः स्थ क्व नु यास्यध्वं हनिष्यामो निवर्तताम्। इत्येवं परुषाण्युक्त्वा दानवाः पार्षदर्षभान् ॥ ३२ ॥
विभिदुः सायकैस्तीक्ष्णैः सूर्यपादा इवाम्बुदान्।
प्रमथा अपि सिंहाक्षाः सिंहविक्रान्तविक्रमाः। खण्डशैलशिलावृक्षैर्बिभिदुर्दैत्यदानवान् ॥ ३३ ॥
अम्बुदैराकुलमिव हंसाकुलमिवाम्बरम्। दानवाकुलमत्यर्थं तत्पुरं सकलं बभौ ॥ ३४ ॥
विकृष्टचापा दैत्येन्द्राः सृजन्ति शरदुर्दिनम्। इन्द्रचापाङ्कितोरस्का जलदा इव दुर्दिनम् ॥ ३५ ॥
इषुभिस्ताड्यमानास्ते भूयो भूयो गणेश्वराः। चक्रुस्ते देहनिर्यासं स्वर्णधातुमिवाचलाः ॥ ३६ ॥
तथ वृक्षशिलावज्रशूलपट्टिपरश्वधैः। चूर्ण्यन्तेऽभिहता दैत्याः काचाष्टङ्कहता इव ॥ ३७ ॥
तारकाख्यो जयत्येष इति दैत्या अघोषयन्। जयतीन्द्रश्च रुद्रश्च इत्येव च गणेश्वराः ॥ ३८ ॥

इधर तारकाक्षपुरके निवासी दैत्य क्रोधसे भरे हुए तारकाक्षको आगे करके तुरंत नगरसे उसी प्रकार बाहर निकले, मानो बिलसे विषधर सर्प निकल रहे हों। बाहर निकलकर उन दैत्योंने देवसेनापर धावा बोल दिया, परंतु प्रमथगणोंके यूथपतियोंने उन्हें ऐसा रोक दिया, जैसे सिंहसमूह गजराजोंके दलको स्तम्भित कर देते हैं। उन गर्वीले दानवोंका रूप तो यों ही (क्रोधके कारण) अग्निकी तरह उद्दीप्त हो उठा था, इधर रोक दिये जानेपर वे धौंकी जाती हुई आगकी तरह जल उठे। फिर तो सब ओर भयंकर सिंहनाद होने लगा। दानवगण बड़े-बड़े धनुषोंपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर प्राण-हरण करनेवाले बाणोंद्वारा एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे। प्रमथगणोंमें किन्हींके मुख बिलाव और किन्हींके मृगके समान भयंकर थे तथा किन्हींके मुख टेढ़े-मेढ़े थे। उन्हें देख-देखकर ठहाका मारकर सौन्दर्यशाली दानव हँसने लगे। परिघ-की-सी आकारवाली भुजाओंद्वारा खींचे जाते हुए धनुषोंसे छूटे हुए बाण योद्धाओंके कवचोंमें उसी प्रकार घुस जाते थे, जैसे पक्षी तालाबोंमें प्रवेश करते हैं। उस समय दानवगण पार्षदयूथपतियोंको ललकारकर कह रहे थे—'अरे! अब तो तुमलोग मरे ही हो। हमारे हाथोंसे छूटकर कहाँ जाओगे! लौट आओ। हमलोग तुम्हें मार डालेंगे।' ऐसी कठोर बातें कहकर वे अपने तीखे बाणोंसे उन्हें इस प्रकार विदीर्ण कर रहे थे, जैसे सूर्यकी किरणें बादलोंको भेदकर पार कर जाती हैं। उधरसे सिंहके समान पराक्रमी एवं सिंह-सदृश नेत्रोंवाले प्रमथगण भी शिलाओं, शिलाखण्डों और वृक्षोंके प्रहारसे दैत्यों और दानवोंको चूर्ण-सा बना दे रहे थे। उस समय बादलोंसे आच्छादित एवं हंसोंसे व्याप्त आकाशकी तरह वह सारा पुर दानवोंसे व्याप्त होकर अत्यन्त सुशोभित हो रहा था। जैसे इन्द्रधनुषसे चिह्नित मध्यभागवाले बादल जलकी वृष्टि करके दुर्दिन (मेघाच्छन्न दिवस) उत्पन्न कर लेते हैं, उसी प्रकार दैत्येन्द्रगण अपने धनुषोंकी प्रत्यञ्चाको

कानतक खींचकर बाणोंकी वर्षा कर अन्धकार उत्पन्न कर रहे थे। दानवोंके बाणोंसे बारंबार घायल होनेके कारण गणेश्वरोंके शरीरोंसे रक्तकी धार बह रही थी, जो ऐसी प्रतीत होती थी, मानो पर्वतोंसे सुवर्णधातु निकल रही हो। उधर गणेश्वरोंद्वारा चलाये गये वृक्ष, शिला, वज्र, शूल, पट्टिश और कुठारके प्रहारसे दैत्यगण ऐसे चूर-चूर कर दिये जा रहे थे, जैसे कुल्हाड़ी या छेनीके प्रहारसे काच छिन्न-भिन्न हो जाता है। उधर दैत्यगण 'यह देखो, तारकाक्ष जीत रहा है'—ऐसी घोषणा कर रहे थे। तभी इधरसे गणेश्वर सिंहनाद करते हुए बोल रहे थे—'देखो-देखो, इन्द्र और रुद्र विजयी हो रहे हैं' ॥ २६—३८ ॥

वारिता दारिता बाणैर्योधास्तस्मिन् बलोभये। निःस्वनन्तोऽम्बुसमये जलगर्भा इवाम्बुदाः ॥ ३९ ॥
करैश्छिन्नैः शिरोभिश्च ध्वजैश्छत्रैश्च पाण्डुरैः। युद्धभूमिर्भयवती मांसशोणितपूरिता ॥ ४० ॥
व्योम्नि चोत्प्लुत्य सहसा तालमात्रं वरायुधैः। दृढाहताः पतन्त पूर्वं दानवाः प्रमथास्तथा ॥ ४१ ॥
सिद्धाश्चाप्सरसश्चैव चारणाश्च नभोगताः। दृढप्रहारहर्षिताः साधु साध्विति चुक्रुशुः ॥ ४२ ॥
अनाहताश्च वियति देवदुन्दुभयस्तथा। नदन्तो मेघशब्देन शरभा इव रोषिताः ॥ ४३ ॥
ते तस्मिंस्त्रिपुरे दैत्या नद्यः सिन्धुपताविव। विशन्ति क्रुद्धवदना वल्मीकमिव पन्नगाः ॥ ४४ ॥
तारकाख्यपुरे तस्मिन् सुराः शूराः समन्ततः। सशस्त्रा निपतन्ति स्म सपक्षा इव भूधराः ॥ ४५ ॥
योधयन्ति त्रिभागेन त्रिपुरे तु गणेश्वराः। विद्युन्माली मयश्चैव मग्नौ च द्रुमवद्रणे ॥ ४६ ॥
विद्युन्माली स दैत्येन्द्रो गिरीन्द्रसदृशद्युतिः। आदाय परिघं घोरं ताडयामास नन्दिनम् ॥ ४७ ॥
स नन्दी दानवेन्द्रेण परिघेण दृढाहतः। भ्रमते मधुनाव्यक्तः पुरा नारायणो यथा ॥ ४८ ॥

उन दोनों सेनाओंमें बाणोंद्वारा रोके एवं घायल किये गये वीर इतने जोरसे सिंहनाद कर रहे थे, जैसे वर्षाकालमें जलसे भरे हुए बादल गरजते हैं। कटे हुए हाथों, मस्तकों, पीले रंगकी पताकाओं और छत्रोंसे तथा मांस और रुधिरसे भरी हुई युद्धभूमि बड़ी भयावनी लग रही थी। दानव तथा प्रमथगण उत्तम अस्त्र धारण कर पहले तो सहसा ताड़-वृक्षकी ऊँचाई बराबर आकाशमें उछल पड़ते थे और पुनः सुदृढरूपसे घायल होकर भूतलपर गिर पड़ते थे। गगनमण्डलमें स्थित सिद्ध, अप्सरा और चारणोंके समूह (दानवोंपर) सुदृढ प्रहार होनेसे हर्षित होकर 'ठीक है, ठीक है', ऐसा कहते हुए चिल्लाने लगते थे। उस समय आकाशमें देवताओंकी दुन्दुभियाँ बिना चोट किये ही बज रही थीं। उनसे मेघकी गर्जना तथा क्रुद्ध हुए शरभ (अष्टपदी) की दहाड़के समान शब्द हो रहे थे। दैत्यगण उस त्रिपुरमें इस प्रकार प्रविष्ट हो रहे थे, जैसे नदियाँ समुद्रमें और क्रुद्ध मुखवाले सर्प बिमवटमें प्रवेश करते हैं। इधर अस्त्रधारी, शूरवीर देवगण तारकाक्षके उस नगरके ऊपर चारों ओर इस प्रकार छाये हुए थे मानो पंखधारी पर्वत मँडरा रहे हों। गणेश्वर त्रिपुरमें तीन भागोंमें विभक्त होकर युद्ध कर रहे थे। उस समय विद्युन्माली और मय—ये दोनों युद्धस्थलमें वृक्षकी भाँति डटे हुए थे। इसी बीच हिमालय-तुल्य कान्तिमान् दैत्येन्द्र विद्युन्मालीने अपना भयंकर परिघ उठाकर नन्दीपर प्रहार किया। दानवेन्द्रके उस परिघके आघातसे नन्दी विशेषरूपसे घायल हो गये और वे ऐसा चक्कर काटने लगे, जैसे पूर्वकालमें दैत्यराज मधुके प्रहारसे अव्यक्तस्वरूप भगवान् नारायण भ्रमित हो गये थे ॥ ३९—४८ ॥

नन्दीश्वरे गते तत्र गणपाः ख्यातविक्रमाः । दुद्रुवुर्जातसंरम्भा विद्युन्मालिनमासुरम् ॥ ४९ ॥
घण्टाकर्णः शङ्कुकर्णो महाकालश्च पार्षदाः । ततश्च सायकैः सर्वान् गणपान् गणपाकृतीन् ॥ ५० ॥
भूयो भूयः स विव्याध गणेश्वरमहत्तमान् । भित्त्वा भित्त्वा ररावोच्चैर्नभस्यम्बुधरो यथा ॥ ५१ ॥
तस्यारम्भितशब्देन नन्दी दिनकरप्रभः । संज्ञां लभ्य ततः सोऽपि विद्युन्मालिनमाद्रवत् ॥ ५२ ॥
रुद्रदत्तं तदा दीप्तं दीप्तानलसमप्रभम् । वज्रं वज्रनिभाङ्गस्य दानवस्य ससर्ज ह ॥ ५३ ॥
तन्नन्दिभुजनिर्मुक्तं मुक्ताफलविभूषितम् । पपात वक्षसि तदा वज्रं दैत्यस्य भीषणम् ॥ ५४ ॥
स वज्रनिहतो दैत्यो वज्रसंहननोपमः । पपात वज्राभिहतः शक्रेणाद्रिरिवाहतः ॥ ५५ ॥
दैत्येश्वरं विनिहतं नन्दिना कुलनन्दिना । चुक्रुशुर्दानवाः प्रेक्ष्य दुद्रुवुश्च गणाधिपाः ॥ ५६ ॥
दुःखामर्षितरोषास्ते विद्युन्मालिनि पातिते । द्रुमशैलमहावृष्टिं पयोदाः ससृजुर्यथा ॥ ५७ ॥
ते पीड्यमाना गुरुभिर्गिरिभिश्च गणेश्वराः । कर्तव्यं न विदुः किंचिद्वन्द्यमाधार्मिका इव ॥ ५८ ॥
ततोऽसुरवरः श्रीमांस्तारकाख्यः प्रतापवान् । स तरूणां गिरीणां वै तुल्यरूपधरो बभौ ॥ ५९ ॥
भिन्नोत्तमाङ्गा गणपा भिन्नपादाङ्कितानना । विरेजुर्भुजगा मन्त्रैर्वार्यमाणा यथा तथा ॥ ६० ॥

नन्दीश्वरके घायल होकर रणभूमिसे हट जानेपर विख्यातपराक्रमी घण्टाकर्ण, शङ्कुकर्ण और महाकाल आदि प्रधान पार्षदगण क्रुद्ध होकर एक साथ राक्षस विद्युन्मालीके ऊपर टूट पड़े । तब विद्युन्मालीने उन सभी गणेश्वरोंको, जो गणेश-सदृश आकृतिवाले तथा गणेश्वरोंमें प्रधान थे, बाणोंद्वारा लगातार बींधना आरम्भ किया । वह उन्हें घायल करके इतने उच्च स्वरसे सिंहनाद करता था मानो आकाशमें बादल गरज रहे हों । उसके उस सिंहनादसे सूर्य-सरीखे प्रभाशाली नन्दीकी मूर्च्छा भंग हो गयी, तब वे भी विद्युन्मालीपर चढ़ धाये । उस समय उन्होंने रुद्रद्वारा दिये गये एवं प्रज्वलित अग्निके समान प्रभाशाली चमकते हुए वज्रको वज्रतुल्य कठोर शरीरवाले दानवके ऊपर चला दिया । तब नन्दीके हाथसे छूटा हुआ मोतियोंसे विभूषित वह भयंकर वज्र विद्युन्मालीके वक्षःस्थलपर जा गिरा । फिर तो वज्रके समान ठोस शरीरवाला दैत्य विद्युन्माली उस वज्रसे आहत होकर उसी प्रकार धराशायी हो गया मानो इन्द्रके प्रहारसे पर्वत गिर पड़ा हो । अपने कुल (वर्ग)को आनन्दित करनेवाले नन्दीद्वारा दैत्यराज विद्युन्मालीको मारा गया देखकर दानवलोग चीत्कार करने लगे । तब गणेश्वरोंने उनपर धावा बोल दिया । विद्युन्मालीके मारे जानेपर दानव दुःख और अमर्षके कारण क्रोधसे भरे हुए थे । वे गणेश्वरोंके ऊपर बादलकी भाँति वृक्षों और पर्वतोंकी महान् वृष्टि करने लगे । विशाल पर्वतोंके प्रहारसे पीडित हुए सभी गणेश्वर ऐसे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये, जैसे अधार्मिक जन वन्दनीय गुरुजनोंके प्रति हो जाते हैं । तदनन्तर असुरनायक प्रतापी श्रीमान् तारकाक्ष वृक्षों एवं पर्वतोंके समान रूप धारण करके रणभूमिमें उपस्थित हुआ ॥ ४९-६० ॥

मयेन मायावीर्येण बध्यमाना गणेश्वराः । भ्रमन्ति बहुशब्दालाः पञ्जरे शकुना इव ॥ ६१ ॥
तथासुरवरः श्रीमांस्तारकाख्यः प्रतापवान् । ददाह च बलं सर्वं शुष्केन्धनमिवानलः ॥ ६२ ॥
तारकाख्येण वार्यन्ते शरवर्षैस्तदा गणाः । मयेन मायानिहतास्तारकाख्येण चेषुभिः ॥ ६३ ॥
गणेशा विधुरा जाता जीर्णमूला यथा द्रुमाः ॥ ६४ ॥
भूयः सम्पतते चाग्निर्ग्रहान् ग्राहान् भुजङ्गमान् । गिरीन्द्रांश्च हरीन् व्याघ्रान् वृक्षान् सृमरवर्णकान् ॥ ६५ ॥
शरभानष्टपादांश्च आपः पवनमेव च । मयो मायाबलेनैव पातयत्येव शत्रुषु ॥ ६६ ॥
ते तारकाक्षेण मयेन मायया सम्मुह्यमाना विवशा गणेश्वराः ।
न शक्नुवंस्ते मनसापि चेष्टितुं यथेन्द्रियार्था मुनिनाभिसंयताः ॥ ६७ ॥
महाजलाग्न्यादिसकुञ्जरोरगैर्हरीन्द्रव्याघ्रर्क्षतरक्षुराक्षसैः ।
विबाध्यमानास्तमसा विमोहिताः समुद्रमध्येष्विव गाधकाङ्क्षिणः ॥ ६८ ॥

सम्मर्द्यमानेषु गणेश्वरेषु संनर्दमानेषु सुरेतरेषु ।
ततः सुराणां प्रवराभिरक्षितुं रिपोर्बलं संविविशुः सहायुधाः ॥ ६९ ॥
यमो गदास्त्रो वरुणश्च भास्करस्तथा कुमारोऽमरकोटिसंयुतः ।
स्वयं च शक्रः सितनागवाहनः कुलीशपाणिः सुरलोकपुङ्गवः ॥ ७० ॥
स चोडुनाथः ससुतो दिवाकरः स सान्तकस्त्र्यक्षपतिर्महाद्युतिः ।
एते रिपूणां प्रवराभिरीक्षितं तदा बलं संविविशुर्मदोद्धताः ॥ ७१ ॥
यथा वनं दर्पितकुञ्जराधिपा यथा नभः साम्बुधरं दिवाकरः ।
यथा च सिंहैर्विजनेषु गोकुलं तथा बलं तत्त्रिदशैरभिद्रुतम् ॥ ७२ ॥
कृतप्रहारातुरदीनदानवं ततस्त्वभज्यन्त बलं हि पार्षदाः ।
स्वर्ज्योतिषां ज्योतिरिवोष्मवान् हरिर्यथा तमो घोरतरं नराणाम् ॥ ७३ ॥
विशान्तयामास यथा सदैव निशाकरः संचितशार्वरं तमः ।

उस समय बहुतेरे गणेश्वरोंके मस्तक फट गये थे, किन्हींके पैर टूट गये थे और कुछके मुखोंपर घाव लगा था। वे सभी मन्त्रोंद्वारा रोके गये सर्पकी तरह शोभा पा रहे थे। मायावी मयद्वारा मारे जाते हुए गणेश्वर पिंजरेमें बंद पक्षीकी तरह अनेकों प्रकारका शब्द करते हुए चक्कर काट रहे थे। तत्पश्चात् असुरश्रेष्ठ प्रतापी श्रीमान् तारकाक्षने पार्षदोंकी सारी सेनाको उसी प्रकार जलाना प्रारम्भ किया, जैसे आग सूखे इन्धनको जला देती है। तारकाक्ष बाणोंकी वर्षा करके पार्षदगणको रोक देता था। इस प्रकार मयकी माया और तारकाक्षके बाणोंद्वारा गणेश्वर मारे जा रहे थे। वे पुरानी जडवाले वृक्षोंकी तरह व्याकुल हो गये। पुनः मयने अपनी मायाके बलपर शत्रुओंके ऊपर अग्निकी वर्षा की तथा ग्रह, मकर, सर्प, विशाल पर्वत, सिंह, बाघ, वृक्ष, काले हिरन और आठ पैरोंवाले शरभो (गैंडों) को भी गिराया, जलकी घनघोर वृष्टि की और झंझावातका भी प्रकोप उत्पन्न किया। इस प्रकार तारकाक्ष और मयकी मायासे मोहित होकर वे गणेश्वर मनसे भी चेष्टा करनेमें असमर्थ हो गये। वे ऐसे विवश हो गये, जैसे मुनियोंद्वारा रोके गये इन्द्रियोंके विषय। उस समय प्रमथगण जल और अग्निकी महान् वृष्टि, हाथी, सर्प, सिंह, व्याघ्र, रीछ, चीते और राक्षसोंद्वारा सताये जा रहे थे। मायाका इतना घना अन्धकार प्रकट हुआ, जिसमें वे ऐसे विमोहित हो गये, जैसे समुद्रके मध्यमें जलकी थाह लगानेवाले विमूढ हो जाते हैं। इस प्रकार गणेश्वर पीड़ित किये जा रहे थे और दानवगण सिंहनाद कर रहे थे। इसी बीच प्रधान-प्रधान देवता अस्त्र धारणकर गणेश्वरोंकी रक्षा करनेके लिये शत्रुसेनामें प्रविष्ट हुए। उस अवसरपर गदाधारी यमराज, वरुण, भास्कर, एक करोड़ देवताओंके साथ कुमार कार्तिकेय, श्वेत हाथी ऐरावतपर सवार हो हाथमें वज्र लिये हुए स्वयं देवराज इन्द्र, चन्द्रमा और अपने पुत्र शनैश्चरके साथ सूर्य तथा अन्तकसहित परम तेजस्वी त्रिलोचन रुद्र—ये सभी मदोद्धत देवता उत्कृष्ट बलवानोंद्वारा सुरक्षित शत्रुओंकी सेनामें प्रविष्ट हुए। जिस प्रकार मतवाले गजेन्द्र वनमें, बादलोंसे घिरे हुए आकाशमें सूर्य और निर्जन स्थानमें स्थित गोष्ठमें सिंह प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार देवताओंने उस सेनापर धावा बोल दिया। फिर तो पार्षदगणोंने शस्त्रप्रहार करके दानवोंको ऐसा व्याकुल और दीन कर दिया कि उनका वह विशाल सेना-व्यूह उसी प्रकार छिन्न-भिन्न हो गया जैसे स्वर्गीय ज्योतिःपुञ्जोंके महान् ज्योति उष्णरश्मि सूर्य मनुष्योंके अन्धकारका विनाश कर देते हैं तथा चन्द्रमा रात्रिके घने अन्धकारका प्रशमन कर देते हैं ॥ ६९—७३½ ॥

ततोऽपकृष्टे च तमः प्रभावे ह्यस्त्रप्रभावे च विवर्धमाने ॥ ७४ ॥
दिग्लोकपालैर्गणनायकैश्च कृतो महान् सिंहरवो मुहूर्तम् ।
संख्ये विभग्ना विकरा विपादाश्छिन्नोत्तमाङ्गाः शरपूरिताङ्गाः ॥ ७५ ॥
देवेतरा देववरैर्विभिन्नाः सीदन्ति पङ्केषु यथा गजेन्द्राः ।
वज्रेण भीमेन च वज्रपाणिः शक्त्या च शक्त्या च मयूरकेतुः ॥ ७६ ॥
दण्डेन चोग्रेण च धर्मराजः पाशेन चोग्रेण च वारिगोप्ता ।
शूलेन कालेन च यक्षराजो वीर्येण तेजस्वितया सुकेशः ॥ ७७ ॥
गणेश्वरास्ते सुरसंनिकाशाः पूर्णाहुतीसिक्तशिखिप्रकाशाः ।
उत्सादयन्ते दनुपुत्रवृन्दान् यथैव इन्द्राशनयः पतन्त्यः ॥ ७८ ॥
मयस्तु देवान् परिरक्षितारमुमात्मजं देववरं कुमारम् ।
शरेण भित्त्वा स हि तारकासुतं स तारकाख्यासुरमावभाषे ॥ ७९ ॥
कृत्वा प्रहारं प्रविशामि वीरं पुरं हि दैत्येन्द्र बलेन युक्तः ।
विश्राममूर्जस्करमभ्यवाप्य पुनः करिष्यामि रणं प्रपन्नैः ॥ ८० ॥
वयं हि शस्त्रक्षतविक्षिताङ्गा विशीर्णशस्त्रध्वजवर्मवाहाः ।
जयैषिणस्ते जयकाशिनश्च गणेश्वरा लोकवराधिपाश्च ॥ ८१ ॥
मयस्य श्रुत्वा दिवि तारकाख्यो वचोऽभिकाङ्क्षन् क्षतजोपमाक्षः ।
विवेश तूर्णं त्रिपुरं दितेः सुतैः सुतैरदित्या युधि वृद्धहर्षैः ॥ ८२ ॥
ततः सशङ्खानकभेरिभीमं ससिंहनादं हरसैन्यमावभौ ।
मयानुगं घोरगभीरगह्वरं यथा हिमाद्रेर्गजसिंहनादितम् ॥ ८३ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरदाहे इलावृते देवदानवयुद्धवर्णने प्रहारकृतं नाम पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३५ ॥

तदनन्तर अन्धकारका प्रभाव नष्ट हो जाने और अस्त्रका प्रभाव बढ़नेपर दिक्पालों, लोकपालों और गणनायकोंने दो घड़ीतक महान् सिंहनाद किया। फिर तो वे युद्धमें दानवोंको विदीर्ण करने लगे। वहाँ किन्हींके हाथ कट गये तो किन्हींके पैर खण्डित हो गये, किन्हींके मस्तक कट गये तो किन्हींके शरीर बाणोंसे घिर गये। इस प्रकार देवश्रेष्ठोंद्वारा घायल किये गये दानव ऐसा कष्ट पा रहे थे, जैसे दलदलमें फँसे हुए गजराज विवश हो जाते हैं। उस समय वज्रपाणि इन्द्र अपने भयंकर वज्रसे, मयूरध्वज स्वामिकार्तिक शक्तिपूर्वक अपनी शक्तिसे, धर्मराज अपने भयंकर दण्डसे, वरुण अपने उग्र पाशसे और पराक्रम एवं तेजसे सम्पन्न सुन्दर बालोंवाले यक्षराज कुबेर अपने काल-सदृश शूलसे प्रहार कर रहे थे। देवताओंके समान तेजस्वी एवं पूर्णाहुतिसे सिक्त हुई अग्निके समान प्रकाशमान गणेश्वर दानववृन्दपर उसी प्रकार झपटते थे मानो बिजलियाँ गिर रही हों। तत्पश्चात् मयने देवताओंकी रक्षामें तत्पर पार्वती-नन्दन एवं तारका-पुत्र सर्वश्रेष्ठ कुमार कार्तिकेयको बाणसे घायल कर तारकाक्षसे कहा—'दैत्येन्द्र! हमलोगोंके शरीर शस्त्रोंके आघातसे क्षत-विक्षत हो गये हैं तथा हमारे शस्त्रास्त्र, ध्वज, कवच और वाहन आदि भी छिन्न-भिन्न हो गये हैं। इधर गणेश्वरों तथा लोकनायक देवोंके मनमें जयकी अभिलाषा विशेषरूपसे जागरूक हो उठी है, साथ ही वे विजयी भी हो रहे हैं, अतः अब मैं इस वीरपर प्रहार करके सेनासहित नगरमें प्रवेश कर जाता हूँ और वहाँ कुछ देर विश्राम करके शक्ति-सम्पन्न होकर पुनः अनुचरोंसहित युद्ध करूँगा।' मयकी ऐसी बात सुनकर उसका पालन करता हुआ रुधिर-सरीखे लाल नेत्रोंवाला तारकाक्ष तुरंत

ही आकाशमार्गसे दिति-पुत्रोंके साथ त्रिपुरमें प्रवेश कर गया। उस समय देवगण रणभूमिमें हर्षके मारे उछल पड़े। फिर तो मयका पीछा करते हुए भगवान् शंकरके सैनिक विशेष शोभा पा रहे थे। उनके शङ्ख, नगाड़े और भेरियाँ बजने लगीं तथा वे सिंहनाद करने लगे। उस समय ऐसा भीषण शब्द हो रहा था मानो हिमालय पर्वतकी भयंकर एवं गहरी गुफामें गजराज और सिंह दहाड़ रहे हों॥ ७४—८३॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके त्रिपुरदाहप्रसङ्गमें इलावृतमें देव-दानव-युद्ध-प्रसङ्गमें परस्पर प्रहार नामक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ १३५॥

एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय

मयका चिन्तित होकर अद्भुत बावलीका निर्माण करना, नन्दिकेश्वर और तारकासुरका भीषण युद्ध तथा प्रमथगणोंकी मारसे विमुख होकर दानवोंका त्रिपुर-प्रवेश

सूत उवाच

मयः प्रहारं कृत्वा तु मायावी दानवर्षभः। विवेश तूर्णं त्रिपुरमभ्रं नीलमिवाम्बरम्॥ १॥
स दीर्घमुष्णं निःश्वस्य दानवान् वीक्ष्य मध्यगान्। दध्यौ लोकक्षये प्राप्ते कालं काल इवापरः॥ २॥
इन्द्रोऽपि बिभ्यते यस्य स्थितो युद्धेप्सुरग्रतः। स चापि निधनं प्राप्तो विद्युन्माली महायशाः॥ ३॥
दुर्गं वै त्रिपुरस्यास्य न समं विद्यते पुरम्। तस्याप्येषोऽनयः प्राप्तो नादुर्गं कारणं क्वचित्॥ ४॥
कालस्यैव वशे सर्वं दुर्गं दुर्गतरं च यत्। काले क्रुद्धे कथं कालात्त्राणं नोऽद्य भविष्यति॥ ५॥
लोकेषु त्रिषु यत्किंचिद् बलं वै सर्वजन्तुषु। कालस्य तद्वशं सर्वमिति पैतामहो विधिः॥ ६॥
अस्मिन् कः प्रभवेद् यो वै ह्यसंधार्येऽमितात्मनि। लङ्घने कः समर्थः स्यादृते देवं महेश्वरम्॥ ७॥
बिभेमि नेन्द्राद्धि यमाद् वरुणान्न च वित्तपात्। स्वामी चैषां तु देवानां दुर्जयः स महेश्वरः॥ ८॥
ऐश्वर्यस्य फलं यत्तत्प्रभुत्वस्य च समन्ततः। तदद्य दर्शयिष्यामि यावद्वीराः समन्ततः॥ ९॥
वापीममृततोयेन पूर्णां स्रक्ष्ये वरौषधीः। जीविष्यन्ति तदा दैत्याः संजीवनवरौषधैः॥ १०॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! दानवश्रेष्ठ मायावी मय स्वामिकार्तिकपर प्रहारकर त्रिपुरमें उसी प्रकार तुरंत प्रवेश कर गया, जैसे नीले आकाशमें बादल प्रविष्ट हो जाते हैं। वहाँ आकर उसने लम्बी और गरम साँस ली तथा त्रिपुरमें भागकर आये हुए दानवोंकी ओर देखकर लोकके विनाशके अवसरपर दूसरे कालके समान मय कालके विषयमें विचार करने लगा—'अहो! रणभूमिमें युद्धकी अभिलाषासे सम्मुख खड़ा हो जानेपर जिससे इन्द्र भी डरते थे, वह महायशस्वी विद्युन्माली भी कालका ग्रास बन गया। त्रिलोकीमें इस त्रिपुरकी समतामें अन्य कोई दुर्ग अथवा पुर नहीं है, फिर भी इसपर भी ऐसी आ ही गयी, अतः (प्राणरक्षाके लिये) दुर्ग कोई कारण नहीं है। (इसलिये मैं तो ऐसा समझता हूँ कि) दुर्ग ही क्यों? दुर्गसे भी बढ़कर सभी वस्तुएँ कालके ही वशमें हैं। तब भला कालके कुपित हो जानेपर इस समय हमलोगोंकी कालसे रक्षा कैसे हो सकेगी? तीनों लोकों तथा समस्त प्राणियोंमें जो-कुछ बल है, वह सारा-का-सारा कालके वशीभूत है—ऐसा ब्रह्माका विधान है। ऐसे अमित पराक्रमी एवं असाध्य कालके प्रति कौन-सा उद्योग सफल हो सकता है? भगवान् शंकरके अतिरिक्त उस कालपर विजय पानेमें कौन समर्थ हो सकता है? मैं इन्द्र, यम और वरुणसे नहीं डरता, कुबेरसे भी मुझे कोई भय नहीं है, किंतु इन देवताओंके स्वामी जो महेश्वर हैं, उनपर विजय पाना

दुष्कर है। फिर भी जबतक ये दानववीर चारों ओर बिखरे हुए हैं, तबतक ऐश्वर्य-प्राप्तिका जो फल होता है तथा स्वामी बननेका जो फल होता है, उसे मैं प्रदर्शित करूँगा। मैं एक ऐसी बावलीका निर्माण करूँगा, जिसमें अमृतरूपी जल भरा होगा। साथ ही कुछ श्रेष्ठ ओषधियोंका भी आविष्कार करूँगा। उन श्रेष्ठ संजीविनी ओषधियोंके प्रयोगसे मरे हुए दैत्य जीवित हो जायँगे' ॥ १-१० ॥

इति संचिन्त्य बलवान् मयो मायाविनां वरः। मायया ससृजे वापीं रम्भामिव पितामहः ॥ ११ ॥
द्वियोजनायतां दीर्घां पूर्णयोजनविस्तृताम्। आरोहसंक्रमवतीं चित्ररूपां कथामिव ॥ १२ ॥
इन्दोः किरणकल्पेन मृष्टेनामृतगन्धिना। पूर्णां परमतोयेन गुणपूर्णामिवाङ्गनाम् ॥ १३ ॥
उत्पलैः कुमुदैः पद्मैर्वृतां कादम्बकैस्तथा। चन्द्रभास्करवर्णाभैर्भीमैरावरणैर्वृताम् ॥ १४ ॥
खगैर्मधुररावैश्च चारुचामीकरप्रभैः। कामैपिभिरिवाकीर्णां जीवनाभरणीमिव ॥ १५ ॥
संसृज्य स मयो वापीं गङ्गामिव महेश्वरः। तस्यां प्रक्षालयामास विद्युन्मालिनमादितः ॥ १६ ॥
स वाप्यां मज्जितो दैत्यो देवशत्रुर्महाबलः। उत्तस्थाविन्धनैरिद्धः सद्यो हुत इवानलः ॥ १७ ॥
मयस्य चाञ्जलिं कृत्वा तारकाख्योऽभिवादितः। विद्युन्मालीति वचनं मयमुत्थाय चाब्रवीत् ॥ १८ ॥
क्व नन्दी सह रुद्रेण वृतः प्रमथजम्बुकैः। युध्यामोऽरीन् विनिष्पीड्य दया देहेषु का हि नः॥ १९ ॥
अन्वास्यैव च रुद्रस्य भवामः प्रभविष्णवः। तैर्वा विनिहता युद्धे भविष्यामो यमाशनाः ॥ २० ॥
विद्युन्मालेर्निशम्यैतन्मयो वचनमूर्जितम्। तं परिष्वज्य साद्राक्ष इदमाह महासुरः ॥ २१ ॥
विद्युन्मालिन् न मे राज्यमभिप्रेतं न जीवितम्। त्वया विना महाबाहो किमन्येन महासुर ॥ २२ ॥
महामृतमयी वापी ह्येषा मायाभिरीश्वर। सृष्टा दानवदैत्यानां हतानां जीववर्धिनी ॥ २३ ॥
दिष्ट्या त्वां दैत्य पश्यामि यमलोकादिहागतम्। दुर्गतावनयग्रस्तं भोक्ष्यामोऽद्य महानिधिम् ॥ २४ ॥

ऐसा विचारकर मायावियोंमें श्रेष्ठ बलवान् मयने एक (सुन्दर) बावलीकी रचना की, जैसे ब्रह्माजीने मायासे रम्भा अप्सराकी रचना कर डाली थी। वह (बावली) दो योजन लम्बी और एक योजन चौड़ी थी। उसमें चित्र-विचित्र प्रसङ्गोंवाली कथाकी भाँति क्रमशः चढ़ाव-उतारवाली सीढ़ियाँ बनी थीं। वह चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल, अमृत-सदृश मधुर एवं सुगन्धित उत्तम जलसे भरी हुई ऐसी लग रही थी, मानो सम्पूर्ण सद्‌गुणोंसे पूर्ण कोई वनिता हो। उसमें नील कमल, कुमुदिनी और अनेकों प्रकारके कमल खिले हुए थे। वह चन्द्रमा और सूर्यके समान चमकीले रंगवाले भयंकर डैनोंसे युक्त कलहंसोंसे व्याप्त थी। उसमें सुन्दर सुनहली कान्तिवाले पक्षी मधुर शब्दोंमें कूज रहे थे। वह जलाभिलाषी जीवोंसे व्याप्त उन्हें प्राणदान करनेवालीकी तरह दीख रही थी। जैसे महेश्वरने (अपनी जटासे) गङ्गाको उत्पन्न किया था, उसी प्रकार मयने उस बावलीकी रचना कर उसके जलसे सर्वप्रथम विद्युन्मालीके शवको धोया। उस बावलीमें डुबोये जानेपर देवशत्रु महाबली दैत्य विद्युन्माली उसी प्रकार उठ खड़ा हुआ, जैसे इन्धन पड़नेसे हवन की गयी अग्नि तुरंत उद्दीप्त हो उठती है। उठते ही विद्युन्मालीने हाथ जोड़कर मय और तारकासुरका अभिवादन किया और मयसे इस प्रकार कहा—'प्रमथरूपी शृगालोंसे घिरा हुआ रुद्रके साथ नन्दी कहाँ खड़ा है? अब हमलोग शत्रुओंको पीसते हुए युद्ध करेंगे। हमलोगोंके शरीरमें दया कहाँ? हमलोग या तो रुद्रको खदेड़कर प्रभावशाली होंगे अथवा उनके द्वारा युद्धस्थलमें मारे जाकर यमराजके ग्रास बन जायँगे।' विद्युन्मालीके ऐसे उत्साहपूर्ण वचन सुनकर महासुर मयके नेत्रोंमें आँसू छलक आये। तब उसने विद्युन्मालीका आलिङ्गन कर इस प्रकार कहा—'महाबाहु विद्युन्माली! तुम्हारे बिना न तो मुझे राज्य अभीष्ट है, न जीवनकी ही अभिलाषा है। महासुर! अन्य पदार्थोंकी तो बात ही

क्या है ? ऐश्वर्यशाली वीर ! मैंने मायाद्वारा अमृतसे भरी हुई इस बावलीकी रचना की है। यह मरे हुए दानवों और दैत्योंको जीवन-दान देगी । दैत्य ! सौभाग्यवश (इसीके प्रभावसे) मैं तुम्हें यमलोकसे लौटा हुआ देख रहा हूँ । अब हमलोग आपत्तिके समय अन्यायसे अपहरण की हुई महानिधिका उपभोग करेंगे' ॥ ११-२४ ॥

दृष्ट्वा दृष्ट्वा च तां वापीं मायया मयनिर्मिताम् । हृष्टाननाक्षा दैत्येन्द्रा इदं वचनमब्रुवन् ॥ २५ ॥
दानवा युध्यतेदानीं प्रमथैः सह निर्भयाः । मयेन निर्मिता वापी हतान् संजीवयिष्यति ॥ २६ ॥
ततः क्षुब्धाम्बुधिनिभा भेरी सा तु भयंकरी । वाद्यमाना ननादोच्चै रौरवी सा पुनः पुनः ॥ २७ ॥
श्रुत्वा भेरीरवं घोरं मेघास्फितसंनिभम् । न्यपतन्नसुरास्तूर्णं त्रिपुराद् युद्धलालसाः ॥ २८ ॥
लोहराजतसौवर्णैः कटकैर्मणिराजितैः । आमुक्तैः कुण्डलैर्हारैर्मुकुटैरपि चोत्कटैः ॥ २९ ॥
धूमायिता ह्यविरमा ज्वलन्त इव पावकाः । आयुधानि समादाय काशिनो दृढविक्रमाः ॥ ३० ॥
नृत्यमाना इव नटा गर्जन्त इव तोयदाः । करोच्छ्रया इव गजाः सिंहा इव च निर्भयाः ॥ ३१ ॥
ह्रदा इव च गम्भीराः सूर्या इव प्रतापिताः । द्रुमा इव च दैत्येन्द्रास्त्रासयन्तो बलं महत् ॥ ३२ ॥
प्रमथा अपि सोत्साहा गरुडोत्पातपातिनः । युयुत्सवोऽभिधावन्ति दानवान् दानवारयः ॥ ३३ ॥
नन्दीश्वरेण प्रमथास्तारकाख्येन दानवाः । चक्रुः संहत्य संग्रामं चोद्यमाना बलेन च ॥ ३४ ॥
तेऽसिभिश्चन्द्रसंकाशैः शूलैश्चानलपिङ्गलैः । बाणैश्च दृढनिर्मुक्तैरभिजघ्नुः परस्परम् ॥ ३५ ॥
शराणां सृज्यमानानामसीनां च निपात्यताम् । रूपाण्यासन् महोल्कानां पतन्तीनामिवाम्बरात् ॥ ३६ ॥

मायाके प्रभावसे मयद्वारा निर्मित उस बावलीको देख-देखकर दैत्येन्द्रोंके नेत्र और मुख हर्षके कारण उत्फुल्ल हो उठे थे । तब वे (दानवोंको ललकारते हुए) इस प्रकार बोले—'दानवो ! अब तुमलोग निर्भय होकर प्रमथगणोंके साथ युद्ध करो । मयद्वारा निर्मित यह बावली मरे हुए तुमलोगोंको जीवित कर देगी ।' फिर तो क्षुब्ध हुए सागरके समान भय उत्पन्न करनेवाली दानवोंकी भेरी बज उठी । वह बड़े जोरसे भयंकर शब्द कर रही थी । मेघकी गर्जनाके समान उस भयंकर भेरीके शब्दको सुनकर युद्धके लिये लालायित हुए असुरगण तुरंत ही त्रिपुरसे बाहर निकल पड़े । वे लोहे, चाँदी, सुवर्ण और मणियोंके बने हुए कड़े, कुण्डल, हार और उत्तम मुकुट धारण किये हुए थे । वे अनवरत जलते हुए, धूमसे युक्त प्रज्वलित अग्निके समान दीख रहे थे । वे सुदृढ पराक्रमी दैत्य अपने-अपने अस्त्र लेकर (उछलते-कूदते हुए) ऐसे लग रहे थे, जैसे रंगमंचपर नाचते हुए नट हों । वे सूँड़ उठाये हुए हाथीके समान हाथ उठाकर और सिंह-सदृश निर्भय होकर बादलकी तरह गर्जना कर रहे थे । कुण्डके समान गम्भीर, सूर्यके सदृश तेजस्वी और वृक्षोंके-से धैर्यशाली दैत्येन्द्र प्रमथोंकी विशाल सेनाको पीडित करने लगे । तत्पश्चात् गरुडकी भाँति झपट्टा मारनेवाले दानव-शत्रु प्रमथगण भी उत्साहपूर्वक युद्ध करनेकी अभिलाषासे दानवोंपर टूट पड़े । उस समय नन्दीश्वरकी अध्यक्षतामें प्रमथगण और तारकासुरकी अध्यक्षतामें दानवयूथ समवेतरूपसे युद्ध करने लगे । उन्हें सेनाएँ भी प्रेरित कर रही थीं । वे चन्द्रमाके समान चमकीली तलवारों, अग्नि-सदृश पीले शूलों और सुदृढरूपसे छोड़े गये बाणोंसे परस्पर एक-दूसरेपर प्रहार कर रहे थे । उस समय छोड़े जाते हुए बाणों तथा प्रहार की जाती हुई तलवारोंके रूप ऐसे दीख रहे थे, मानो आकाशसे गिरती हुई महोल्काएँ हों ॥ २५-३६ ॥

शक्तिभिर्भिन्नहृदया निर्दया इव पातिताः । निरयेष्विव निर्मग्नाः कूजन्ते प्रमथासुराः ॥ ३७ ॥
हेमकुण्डलयुक्तानि किरीटोत्कटवन्ति च । शिरांस्युर्व्यां पतन्ति स्म गिरिकूटा इवात्यये ॥ ३८ ॥
परश्वधैः पट्टिशैश्च खड्गैश्च परिघैस्तथा । छिन्नाः करिवराकारा निपेतुस्ते धरातले ॥ ३९ ॥

गर्जन्ति सहसा हृष्टाः प्रमथा भीमगर्जनाः। साधयन्त्यपरे सिद्धा युद्धगान्धर्वमद्भुतम् ॥ ४० ॥
बलवान् भासि प्रमथ दर्पितो भासि दानव। इति चोच्चारयन् वाचं चारणा रणधूर्गताः ॥ ४१ ॥
परिघैराहताः केचिद् दानवैः शंकरानुगाः। वमन्ते रुधिरं वक्त्रैः स्वर्णधातुमिवाचलाः ॥ ४२ ॥
प्रमथैरपि नाराचैरसुराः सुरशत्रवः। द्रुमैश्च गिरिशृङ्गैश्च गाढमेवाहवे हताः ॥ ४३ ॥
सूदितानथ तान् दैत्यानन्ये दानवपुङ्गवाः। उत्क्षिप्य चिक्षिपुर्वाप्यां मयदानवचोदिताः ॥ ४४ ॥
ते चापि भास्वरैर्देहैः स्वर्गलोक इवामराः। उत्तस्थुर्वापीमासाद्य सद्रूपाभरणाम्बराः ॥ ४५ ॥
अथैके दानवाः प्राप्य वापीप्रक्षेपणादसून्। आस्फोट्य सिंहनादं च कृत्वा प्राद्रवंस्तथासुराः ॥ ४६ ॥
दानवाः प्रमथानेतान् प्रसर्पत किमास्थ। हतानपि हि वो वापी पुनरुज्जीवयिष्यति ॥ ४७ ॥

शक्तिके आघातसे उनके हृदय छिन्न-भिन्न हो गये थे और वे दयाहीनकी भाँति भूमिपर पडे हुए थे। इस प्रकार प्रमथगण तथा असुरवृन्द नरकमे पडे हुए जीवोकी तरह चीत्कार कर रहे थे। स्वर्णनिर्मित कुण्डलों और प्रभाशाली किरीटोसे युक्त वीरोके मस्तक प्रलयकालमें पर्वतशिखरकी भाँति पृथ्वीपर गिर रहे थे। वे कुठार, पटा, खड्ग और लोहेकी गदाके आघातसे छिन्न-भिन्न होकर गजेन्द्रोके समान धराशायी हो रहे थे। कभी सहसा भयंकर गर्जना करनेवाले प्रमथगण हर्षपूर्वक गर्जना करने लगते तो इधर सिद्धगण अद्भुत युद्ध-कौशल दिखाते थे। रणभूमिमें आगे चलनेवाले चारण—'प्रमथ! तुम तो बलवान् मालूम पड़ते हो,' 'दानव! तुम गर्वीले दीख रहे हो'—इस प्रकारके वचन बोल रहे थे। दानवोद्वारा चलाये गये लोहनिर्मित गदाके आघातसे कुछ पार्षदगण मुखसे रक्त उगल रहे थे, जो ऐसे लगते थे, मानो पर्वत सुवर्णधातु उगल रहे हो। उधर प्रमथगण भी रणभूमिमें बाणो, वृक्षो और पर्वत-शिखरोके प्रहारसे बहुतेरे देवशत्रु असुरोको पूर्णरूपसे घायल कर उन्हें कालके हवाले कर रहे थे। मय दानवकी आज्ञासे दूसरे दानवश्रेष्ठ उन मरे हुए दानवोको उठाकर उसी बावलीमें डाल देते थे। उस बावलीमें पड़ते ही वे सभी दानव स्वर्गवासी देवताओकी तरह तेजस्वी शरीर धारण कर उत्तम आभूषणो और वस्त्रोंसे विभूषित हो बाहर निकल आते थे। तदनन्तर बावलीमें डाल देनेसे जीवित हुए कुछ दानव ताल ठोककर सिंहनाद करते हुए इधर-उधर दौड़ लगा रहे थे और कह रहे थे—'दानवो! इन प्रमथगणोपर धावा करो। क्यो बैठे हो? (अब तुमलोगोको कोई भय नही है; क्योकि) मर जानेपर भी तुमलोगोको यह बावली पुनः जीवित कर देगी' ॥ ३७—४७ ॥

एवं श्रुत्वा शङ्कुकर्णो वचोऽग्रग्रहसंनिभः। द्रुतमेवैत्य देवेशमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४८ ॥
सूदिताः सूदिता देव प्रमथैरसुरा ह्यमी। उत्तिष्ठन्ति पुनर्भीमाः सस्या इव जलोक्षिताः ॥ ४९ ॥
अस्मिन् किल पुरे वापी पूर्णामृतरसाम्भसा। निहता निहता यत्र क्षिप्ता जीवन्ति दानवाः ॥ ५० ॥
इति विज्ञापयद् देवं शङ्कुकर्णो महेश्वरम्। अभवन् दानवबल उत्पाता वै सुदारुणाः ॥ ५१ ॥
तारकाख्यः सुभीमाक्षो दारितास्यो हरिर्यथा। अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धो महादेवरथं प्रति ॥ ५२ ॥
त्रिपुरे तु महान् घोरो भेरीशङ्खरवो बभौ। दानवा निःसृता दृष्ट्वा देवदेवरथे सुरम् ॥ ५३ ॥
भूकम्पश्चाभवत्तत्र रथाङ्गो* भूगतोऽभवत्। दृष्ट्वा क्षोभमगाद्रुद्रः स्वयम्भूश्च पितामहः ॥ ५४ ॥
ताभ्यां देववरिष्ठाभ्यामन्वितः स रथोत्तमः। अनायतनमासाद्य सीदते गुणवानिव ॥ ५५ ॥
धातुक्षये देह इव ग्रीष्मे चाल्पमिवोदकम्। शैथिल्यं याति स रथः स्नेहो विप्रकृतो यथा ॥ ५६ ॥
रथादुत्पत्यात्मभूर्वै सीदन्तं तु रथोत्तमम्। उज्जहार महाप्राणो रथं त्रैलोक्यरूपिणम् ॥ ५७ ॥
तदा शराद् विनिष्पत्य पीतवासा जनार्दनः। वृषरूपं महत्कृत्वा रथं जग्राह दुर्धरम् ॥ ५८ ॥

* कुछ प्रतियोंके अनुसार यहाँ यदि 'शताङ्ग' पाठ भी हो तो विष्णु आदि सैकड़ों अङ्गयुक्त रथ भी अभिप्रेत होगा।

स विषाणाभ्यां त्रैलोक्यं रथमेव महारथः। प्रगृह्योद्वहते सज्जं कुलं कुलवहो यथा ॥ ५९ ॥
तारकाख्योऽपि दैत्येन्द्रो गिरीन्द्र इव पक्षवान्। अभ्यद्रवत्तदा देवं ब्रह्माणं हतवांश्च सः ॥ ६० ॥
स तारकाख्याभिहतः प्रतोदं न्यस्य कूबरे। विजज्वाल मुहुर्ब्रह्मा श्वासं वक्त्रात् समुद्गिरन् ॥ ६१ ॥

दानवोंको ऐसा कहते सुनकर सूर्यके समान तेजस्वी शङ्कुकर्णने शीघ्र ही देवेश्वर शंकरजीके निकट जाकर इस प्रकार कहा—'देव ! प्रमथगणोंद्वारा बारंबार मारे गये ये भयंकर असुर पुनः उसी प्रकार जी उठते हैं, जैसे जलके सिञ्चनसे सूखी हुई फसल। निश्चय ही इस पुरमें अमृतरूपी जलसे परिपूर्ण कोई बावली है, जिसमें डाल देनेसे बार-बार मारे गये दानव पुनः जीवित हो जाते हैं।' इस प्रकार शङ्कुकर्णने भगवान् महेश्वरको सूचित किया। उसी समय दानवोंकी सेनामें अत्यन्त भीषण उत्पात होने लगे। तब परम भयानक नेत्रोंवाले तारकाक्षने अत्यन्त कुपित होकर सिंहकी तरह मुँह फैलाये हुए महादेवजीके रथपर धावा किया। उस समय त्रिपुरमें भेरियों और शङ्खोंका महान् भीषण निनाद होने लगा। देवाधिदेव शंकरजीके रथपर (शंकर और) ब्रह्माको उपस्थित देखकर दानवगण त्रिपुरसे बाहर निकले। तभी वहाँ ऐसा भयंकर भूकम्प आया, जिससे (शिवजीके) रथका चक्का पृथ्वीमें प्रविष्ट हो गया। यह देखकर भगवान् रुद्र और स्वयम्भू ब्रह्मा क्षुब्ध हो उठे। उन दोनों देवश्रेष्ठोंसे युक्त वह उत्तम रथ कहीं ठहरनेका स्थान न पाकर स्थानरहित गुणी पुरुषकी तरह विपत्तिग्रस्त हो गया। वह रथ वीर्यनाश हो जानेपर शरीर, ग्रीष्म ऋतुमें अल्प जलवाले जलाशय और तिरस्कृत स्नेहकी तरह शिथिलताको प्राप्त हो गया। इस प्रकार जब वह श्रेष्ठ रथ नीचे जाने लगा, तब महाबली स्वयम्भू ब्रह्माने उससे कूदकर उस त्रैलोक्यरूपी रथको ऊपर उठा दिया। इतनेमें ही पीताम्बरधारी भगवान् जनार्दनने बाणसे निकलकर विशाल वृषभका रूप धारण किया और उस दुर्धर रथको उठा लिया। वे महारथी जनार्दन त्रिलोकीरूप उस रथको अपने सींगोंपर उठाकर उसी तरह ढो रहे थे, जैसे कुलपति अपने संगठित कुलका भार वहन करता है। उसी समय पक्षधारी गिरिराजकी तरह विशालकाय दैत्येन्द्र तारकासुरने भी देवेश्वर ब्रह्मापर धावा बोल दिया और उन्हें घायल कर दिया। तब तारकासुरके प्रहारसे घायल हुए ब्रह्मा रथके कूबरपर चाबुक रखकर मुखसे बारंबार लम्बी साँस छोड़ते हुए (क्रोधसे) प्रज्वलित हो उठे ॥ ४८—६१ ॥

तत्र दैत्यैर्महानादो दानवैरपि भैरवः। तारकाख्यस्य पूजार्थं कृतो जलधरोपमः ॥ ६२ ॥
रथचरणकरोऽथ महामृधे वृषभवपुर्वृषभेन्द्रपूजितः।
दितितनयबलं विमर्द्य सर्वं त्रिपुरपुरं प्रविवेश केशवः ॥ ६३ ॥
सजलजलदराजितां समस्तां कुमुदवरोत्पलफुल्लपङ्कजाढ्याम्।
सुरगुरुरपिवत् पयोऽमृतं तद्विरिचि संचितशार्वरं तमोऽन्धम् ॥ ६४ ॥
वापीं पीत्वासुरेन्द्राणां पीतवासा जनार्दनः।
नर्दमानो महाबाहुः प्रविवेश शरं ततः ॥ ६५ ॥
ततोऽसुरा भीमगणेश्वरैर्हताः प्रहारसंवर्धितशोणितापगाः।
पराङ्मुखा भीममुखैः कृता रणे यथा नयाभ्युद्यततत्परैर्नरैः ॥ ६६ ॥
स तारकाख्यस्तडिमालिरेव च मयेन सार्धं प्रमथैरभिद्रुताः।
पुरं परावृत्य नु ते शरार्दिता यथा शरीरं पवनोदये गताः ॥ ६७ ॥
गणेश्वराभ्युद्यतदर्पकारिणो महेन्द्रनन्दीश्वरषण्मुखा युधि।
विनेदुरुच्चैर्जहसुश्च दुर्मदा जयेम चन्द्रादिदिगीश्वरैः सह ॥ ६८ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरदाहे पट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३६ ॥

वहाँ दैत्य और दानव तारकासुरका सत्कार करनेके लिये मेघकी गर्जनाके समान अत्यन्त भयंकर सिंहनाद करने लगे। यह देखकर वृषभका शरीर धारण करनेवाले एवं शंकरद्वारा पूजित भगवान् केशव हाथमें सुदर्शन चक्र धारण कर उस महासमरमें दैत्योंकी सारी सेनाओंका मर्दन करते हुए त्रिपुरमें प्रविष्ट हुए। वहाँ वे उस बावलीपर जा पहुँचे, जो चारों ओरसे बादलोंसे सुशोभित तथा खिली हुई कुमुदिनी, नीलकमल और अन्यान्य कमलोंसे व्याप्त थी। फिर तो उन देवश्रेष्ठने उसके अमृतरूपी जलको इस प्रकार पी लिया, जैसे सूर्य रात्रिमें संचित हुए घने अन्धकारको पी जाते हैं। इस प्रकार पीताम्बरधारी महाबाहु जनार्दन असुरेन्द्रोंकी बावलीका अमृत पीकर सिंहनाद करते हुए पुनः उसी बाणमें प्रविष्ट हो गये। तत्पश्चात् भयावने मुखवाले भयंकर गणेश्वरोंने असुरोंको मारना प्रारम्भ किया। उनके प्रहारसे घायल हुए दानवोंके रुधिरसे नदियाँ बह चलीं। वे उसी प्रकार युद्धविमुख कर दिये गये, जैसे नयशील पुरुष अन्यायियोंको विमुख कर देते हैं। इस प्रकार प्रमथगणोंद्वारा खदेड़े गये एवं बाणोंके प्रहारसे घायल मयके साथ तारकासुर और विद्युन्माली त्रिपुरमें ऐसे लौट आये, मानो उनके शरीरसे प्राण ही निकल गये हों। उस समय युद्धस्थलमें महेन्द्र, नन्दीश्वर और स्वामिकार्तिक गणेश्वरोंके साथ दर्पसे सुशोभित हो सिंहनाद एवं अट्टहास करते रहे थे। वे उन्मत्त होकर कहने लगे कि अब चन्द्रमा आदि दिक्पालों-सहित हमलोग अवश्य विजयी होंगे॥ ६२—६८॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके त्रिपुरदाहप्रसङ्गमें एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ १३६॥

एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय

वापी-शोषणसे मयको चिन्ता, मय आदि दानवोंका त्रिपुरसहित समुद्रमें प्रवेश तथा शंकरजीका इन्द्रको युद्ध करनेका आदेश

सूत उवाच

प्रमथैः समरे भिन्नास्त्रैपुरास्ते सुरारयः। पुरं प्रविविशुर्भीताः प्रमथैर्भग्नगोपुरम् ॥ १ ॥
शीर्णदंष्ट्रा यथा नागा भग्नशृङ्गा यथा वृषाः। यथा विपक्षाः शकुना नद्यः क्षीणोदका यथा ॥ २ ॥
मृतप्रायास्तथा दैत्या दैवतैर्विकृताननाः। बभूवुस्ते विमनसः कथं कार्यमिति ब्रुवन् ॥ ३ ॥
अथ तान् म्लानमनसस्तदा तामरसाननः। उवाच दैत्यो दैत्यानां परमाधिपतिर्मयः ॥ ४ ॥
कृत्वा युद्धानि घोराणि प्रमथैः सह सामरैः। तोषयित्वा तथा युद्धे प्रमथानमरैः सह ॥ ५ ॥
यूयं यत् प्रथमं दैत्याः पश्चाच्च बलपीडिताः। प्रविष्टा नगरं त्रासात् प्रमथैर्भृशमर्दिताः ॥ ६ ॥
अप्रियं क्रियते व्यक्तं दैवैर्नास्त्यत्र संशयः। यत्र नाम महाभागाः प्रविशन्ति गिरेर्वनम् ॥ ७ ॥
अहो हि कालस्य बलमहो कालो हि दुर्जयः। यत्रेदृशस्य दुर्गस्य उपरोधोऽयमागतः ॥ ८ ॥
मये विवदमाने तु नर्दमाने इवाम्बुदे। बभूवुर्निष्प्रभा दैत्या ग्रहा इन्दूदये यथा ॥ ९ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! इस प्रकार समर-भूमिमें प्रमथगणोंद्वारा घायल किये गये त्रिपुरवासी देवशत्रु दानव भयभीत होकर त्रिपुरमें लौट गये। उस समय प्रमथोंने त्रिपुरके फाटकको भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। जैसे नष्ट हुए दाँतोंवाले सर्प, टूटे हुए सींगोंवाले साँड, डैनेरहित पक्षी और क्षीण जलवाली नदियाँ शोभाहीन हो जाती हैं, उसी प्रकार देवताओंके प्रहारसे दैत्यवृन्द मृतप्राय हो गये थे। उनके मुख विकृत हो गये थे और वे खिन्न मनसे कह रहे थे कि अब क्या किया जाय? तब कमल-सदृश मुखवाले दैत्योंके

चक्रवर्ती सम्राट् मय दैत्यने उन मलिन मनवाले दैत्योंसे कहा—'दैत्यो! इसमें संदेह नहीं है कि तुमलोगोंने पहले युद्धभूमिमें देवताओंसहित प्रमथगणोंके साथ भयंकर युद्ध करके उन्हें संतुष्ट किया है, किंतु पीछे तुमलोग देवसेनासे पीड़ित और प्रमथोंके प्रहारसे अत्यन्त घायल होकर भयवश नगरमें भाग आये हो। निस्संदेह देवगण प्रकटरूपमें हमलोगोंका अप्रिय कर रहे हैं, इसी कारण ये महान भाग्यशाली दैत्य इस समय भागकर पर्वतीय वनोंमें छिप रहे हैं। अहो! कालका बल महान् है! अहो! यह काल किसी प्रकार जीता नहीं जा सकता। कालके ही प्रभावसे त्रिपुर-जैसे दुर्गपर यह अवरोध आ गया है।' मेघकी भाँति कड़कते हुए मयके इस प्रकार विषाद करनेपर सभी दैत्य उसी प्रकार निस्तेज हो गये, जैसे चन्द्रमाके उदय होनेपर अन्य ग्रह मलिन हो जाते हैं॥ १—९॥

वापीपालास्ततोऽभ्येत्य नभः काल इवाम्बुदाः। मयमाहुर्यमप्रख्यं स्वाञ्जलिप्रग्रहाः स्थिताः॥ १०॥
या सामृतरसा गूढा वापी वै निर्मिता त्वया। समाकुलोत्पलवना समीनाकुलपङ्कजा॥ ११॥
पीता सा वृषरूपेण केनचिद् दैत्यनायक। वापी सा साम्प्रतं दृष्टा मृतसंज्ञा इवाङ्गना॥ १२॥
वापीपालवचः श्रुत्वा मयोऽसौ दानवप्रभुः। कष्टमित्यसकृन् प्रोच्य दितिजानिदमब्रवीत्॥ १३॥
मया मायाबलकृता वापी पीता त्वियं यदि। विनष्टाः स्म न संदेहस्त्रिपुरं दानवा गतम्॥ १४॥
निहतान् निहतान् दैत्यानाजीवयति दैवतैः। पीता वा यदि वा वापी पीता वै पीतवाससा॥ १५॥
कोऽन्यो मन्मायया गुप्तां वापीममृततोयिनीम्। पास्यते विष्णुमजितं वर्जयित्वा गदाधरम्॥ १६॥
सुगुह्यमपि दैत्यानां नास्त्यस्याविदितं भुवि। यत्र मद्वरकौशल्यं विज्ञानं न श्रुतं बुधैः॥ १७॥
समोऽयं रुचिरो देशो निर्द्रुमो निर्द्रुमाचलः। नवाम्भःपूरितं कृत्वा बाधन्तेऽस्मान् मरुद्गणाः॥ १८॥
ते यूयं यदि मन्यध्वं सागरोपरि धिष्ठिताः। प्रमथानां महावेगं सहामः श्वसनोपमम्॥ १९॥
एतेषां च समारम्भास्तस्मिन् सागरसम्प्लवे। निरुत्साहा भविष्यन्ति एतद्रथपथावृताः॥ २०॥
युध्यतां निघ्नतां शत्रून् भीतानां च द्रविष्यताम्। सागरोऽम्बरसङ्काशः शरणं नो भविष्यति॥ २१॥
इत्युक्त्वा स मयो दैत्यो दैत्यानामधिपस्तदा। त्रिपुरेण ययौ तूर्णं सागरं सिन्धुबान्धवम्॥ २२॥
सागरे जलगम्भीरे उत्पपात पुरं वरम्। अवतस्थुः पुराण्येव गोपुराभरणानि च॥ २३॥

इसी समय वर्षाकालीन मेघकी तरह शरीरधारी बावलीके रक्षक दैत्य यमराज-सदृश भयंकर मयके निकट आकर हाथ जोड़कर (अभिवादन करके) खड़े हो गये और इस प्रकार बोले—'दैत्यनायक! आपने अमृतरूपी जलसे भरी हुई जिस गुप्त बावलीका निर्माण किया था, जो नील कमल-वनसे व्याप्त थी तथा जिसमें मछलियाँ और विभिन्न प्रकारके भी कमल भरे हुए थे, उसे वृषभरूपधारी किसी देवताने पी लिया। इस समय वह बावली मूर्च्छित हुई सुन्दरी स्त्रीकी भाँति दीख रही है।' बावलीके रक्षकोंकी बात सुनकर दानवराज मय 'कष्ट है'—ऐसा कई बार कहकर दैत्योंसे इस प्रकार बोला—'दानवो! मेरेद्वारा मायाके बलसे रची हुई बावलीको यदि किसीने पी लिया तो निश्चय समझो कि हमलोग नष्ट हो गये और त्रिपुरको भी गया हुआ ही समझो। हाय! जो देवताओंद्वारा बार-बार मारे गये दैत्योंको जीवन-दान देती थी, वह बावली पी ली गयी! यदि वह सचमुच पी ली गयी तो (निश्चय ही) उसे पीताम्बरधारी विष्णुने ही पीया होगा। भला, गदाधारी अजेय विष्णुको छोड़कर दूसरा कौन ऐसा समर्थ है, जो मेरी मायाद्वारा गुप्त एवं अमृतरूपी जलसे भरी हुई बावलीको पी सकेगा? भूतलपर दैत्योंकी गुप्त-से-गुप्त बात विष्णुसे अज्ञात नहीं है। मेरी वर-प्राप्तिकी कुशलता, जिसे विद्वान्लोग नहीं जान सके, विष्णुसे छिपी नहीं है। हमारा यह देश सुन्दर और समतल है। यह वृक्ष और पर्वतसे रहित है।

फिर भी मरुद्गण इसे नूतन जलसे परिपूर्ण करके हमलोगोंको बाधा पहुँचा रहे हैं। इसलिये यदि तुम-लोगोंको स्वीकार हो तो हमलोग सागरके ऊपर स्थित हो जायँ और वहाँसे प्रमथोंके वायुके समान महान् वेगको सहन करें। सागरकी उस बाढ़में इनका सारा उद्योग उत्साहहीन हो जायगा और उस विशाल रथका मार्ग रुक जायगा। इसलिये युद्ध करते समय, शत्रुओंको मारते समय और भयभीत होकर भागते समय हमलोगोंके लिये यह सागर आकाशकी भाँति शरणदाता हो जायगा।' ऐसा कहकर दैत्यराज मय दानव तुरंत त्रिपुरसहित नदियोंके बन्धुस्वरूप सागरकी ओर प्रस्थित हुआ। फिर तो वह श्रेष्ठ त्रिपुर नामक नगर अगाध जलवाले सागरके ऊपर मँडराने लगा। उसके फाटक और आभूषणादि-सहित तीनों पुर यथास्थान स्थित हो गये ॥१०—२३॥

अपक्रान्ते तु त्रिपुरे त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः। पितामहमुवाचेदं वेदवादविशारदम् ॥ २४ ॥
पितामह दृढं भीता भगवन् दानवा हि नः। विपुलं सागरं ते तु दानवाः समुपाश्रिताः ॥ २५ ॥
यत एव हि ते यातास्त्रिपुरेण तु दानवाः। तत एव रथं तूर्णं प्रापयस्व पितामह ॥ २६ ॥
सिंहनादं ततः कृत्वा देवा देवरथं च तम्। परिवार्य ययुर्हृष्टाः सायुधाः पश्चिमोदधिम् ॥ २७ ॥
ततोऽमरामरगुरुं परिवार्य भवं हरम्। नर्दयन्तो ययुस्तूर्णं सागरं दानवालयम् ॥ २८ ॥
अथ चारुपताकभूषितं पटहाडम्बरशङ्खनादितम्।
त्रिपुरमभिसमीक्ष्य देवता विविधबला ननदुर्यथा घनाः ॥ २९ ॥
असुरवरपुरेऽपि दारुणो जलधररावमृदङ्गगह्वरः।
दनुतनयनिनादमिश्रितः प्रतिनिधिः संक्षुभितार्णवोपमः ॥ ३० ॥
अथ भुवनपतिर्गतिः सुराणामरिमृगयामददात् सुलब्धबुद्धिः।
त्रिदशगणपतिं ह्युवाच शक्रं त्रिपुरगतं सहसा निरीक्ष्य शत्रुम् ॥ ३१ ॥
त्रिदशगणपते निशामयैतत् त्रिपुरनिकेतनं दानवाः प्रविष्टाः।
यमवरुणकुबेरषण्मुखैस्तत् सह गणपैरपि हन्मि तावदेव ॥ ३२ ॥
विहितपरबलाभिघातभूतं व्रज जलधेस्तु यतः पुराणि तस्थुः।
स रथवरगतो भवः समर्थो ह्युदधिमगात् त्रिपुरं पुनर्निहन्तुम् ॥ ३३ ॥
इति परिगणयन्तो दितेः सुता ह्यवतस्थुर्लवणार्णवोपरिष्टात्।
अभिभवत् त्रिपुरं सदानवेन्द्रं शरवर्षैर्मुसलैश्च वज्रमिश्रैः ॥ ३४ ॥
अहमपि रथवर्यमास्थितः सुरवरवर्य भवेय पृष्ठतः।
असुरवरवधार्थमुद्यतानां प्रतिविदधामि सुखाय तेऽनघ ॥ ३५ ॥
इति भववचनप्रचोदितो दशशतनयनवपुः समुद्यतः।
त्रिपुरपुरजिघांसया हरिः प्रविकसिताम्बुजलोचनो ययौ ॥ ३६ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुराक्रमणं नाम सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

इस प्रकार त्रिपुरके दूर हट जानेपर त्रिपुरारि भगवान् शंकरने वेदवादमें निपुण ब्रह्मासे इस प्रकार कहा—'ऐश्वर्यशाली पितामह! दानवगण हमलोगोंसे भलीभाँति डर गये हैं, इसलिये वे भागकर विशाल सागरकी शरणमें चले गये। पितामह! त्रिपुरसहित वे दानव जिस मार्गसे गये हैं, उसी मार्गसे आप शीघ्र ही मेरे रथको वहाँ पहुँचाइये।' तब आयुधधारी देवगण हर्षपूर्वक सिंहनाद करके और उस देवरथको चारों ओरसे घेरकर पश्चिम सागरकी ओर चल पड़े। तत्पश्चात् देवगण देवश्रेष्ठ भगवान् शंकरको चारों ओरसे घेरकर सिंहनाद करते हुए शीघ्र ही दानवोंके निवासस्थान सागरकी ओर प्रस्थित हुए। वहाँ

पहुँचनेपर सुन्दर पताकाओंसे विभूषित तथा ढोल, नगारे और शङ्खके शब्दोंसे निनादित त्रिपुरको देखकर अनेको सेनाओंसे सम्पन्न देवगण बादलोंकी तरह गर्जना करने लगे। उधर असुरश्रेष्ठ मयके पुरमें भी दानवोंके सिंहनादके साथ-साथ मेघ-गर्जनाके सदृश मृदंगोंका भयंकर एवं गम्भीर शब्द हो रहा था, जो क्षुब्ध हुए महासागरकी गर्जनाके समान प्रतीत हो रहा था। तदनन्तर देवताओंके आश्रयस्थान प्रत्युत्पन्नमति त्रिभुवन-पति शंकर शत्रुओंका शिकार करनेके लिये उद्यत हो गये। तब उन्होंने सहसा शत्रुओंको त्रिपुरमें प्रवेश करते देखकर देवताओं और गणोंके सेनानायक इन्द्रसे इस प्रकार कहा—'देवताओं और गणेश्वरोंके नायक इन्द्र! आपलोग मेरी यह बात सुनें। दानवलोग अपने निवासस्थान त्रिपुरमें घुस गये हैं, अतः आप यम, वरुण, कुबेर, कार्तिकेय तथा गणेश्वरोंको साथ लेकर इनका संहार करें। तबतक मैं भी इन्हें मार रहा हूँ। आप शत्रु-सेनापर प्रहार करते हुए समुद्रके उस स्थानतक बढ़ते चलें, जहाँ तीनों पुर स्थित हैं। यह देखकर जब उन दैत्योंको यह विदित हो जायगा कि सामर्थ्यशाली शंकर उस श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो पुनः त्रिपुरका विनाश करनेके लिये समुद्रतटपर आ गये हैं, तब वे लवणसागरके ऊपर निकल आयेंगे। तब आप वज्रसहित मुसलों एवं बाणोंकी वर्षा करते हुए दानवेन्द्रोंसहित त्रिपुरपर आक्रमण कर दें। सुरश्रेष्ठ! उस समय मैं भी इस श्रेष्ठ रथपर बैठा हुआ असुरेन्द्रोंका वध करनेके लिये उद्यत आपलोगोंके पीछे रहूँगा। अनघ! मैं सर्वथा आपलोगोंके सुखका विधान करता रहूँगा।' इस प्रकार शंकरजीके वचनोंसे प्रेरित होकर एक हजार नेत्रोंवाले इन्द्र, जिनके नेत्र प्रफुल्ल कमलके सदृश सुन्दर थे, त्रिपुरके विनाशकी इच्छासे उद्यत होकर आगे बढ़े॥ २४—३६॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें त्रिपुराक्रमण नामक एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ १३७॥

एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय

देवताओं और दानवोंमें घमासान युद्ध तथा तारकासुरका वध

सूत उवाच

मघवा तु निहन्तुं तानसुरानमरेश्वरः। लोकपाला ययुः सर्वे गणपालाश्च सर्वगः॥ १॥
ईश्वरेणोर्जिताः सर्वे उत्पेतुश्चाम्बरे तदा। खगतास्तु विरेजुस्ते पक्षवन्त इवाचलाः॥ २॥
प्रययुस्तत्पुरं हन्तुं शरीरमिव व्याधयः।
शङ्खाडम्बरनिर्घोषैः पणवान् पटहानपि। नादयन्तः पुरो देवा दृष्टास्त्रिपुरवासिभिः॥ ३॥
हरः प्राप्त इतीवोक्त्वा बलिनस्ते महासुराः। आजग्मुः परमं क्षोभमत्ययेष्विव सागराः॥ ४॥
सुरतूर्यरवं श्रुत्वा दानवा भीमदर्शनाः। निनदुर्वादयन्तश्च नानावाद्यान्यनेकशः॥ ५॥
भूयोऽग्निर्वार्यास्ते परस्परकृतागसः। पूर्वदेवाश्च देवाश्च सूदयन्तः परस्परम्॥ ६॥
आक्रोशेऽपि समप्रख्ये तेषां देहनिकृन्तनम्। प्रवृत्तं युद्धमतुलं प्रहारकृतनिःस्वनम्॥ ७॥
निष्पतन्त इवादित्याः प्रज्वलन्त इवाग्नयः।
श्वसन्त इव नागेन्द्रा भ्रमन्त इव पक्षिणः। गिरीन्द्रा इव कम्पन्तो गर्जन्त इव तोयदाः॥ ८॥
जृम्भन्त इव शार्दूलाः प्रवान्त इव वायवः। प्रवृद्धोर्मितरङ्गौघाः क्षुभ्यन्त इव सागराः॥ ९॥
प्रमथाश्च महाशूरा दानवाश्च महाबलाः। युयुधुर्निश्चला भूत्वा वज्रा इव महाचलैः॥ १०॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! शंकरजीद्वारा उत्साहित गणपाल सब ओरसे उन असुरोंका वध करनेके लिये जानेपर देवराज इन्द्र, सभी लोकपाल और लिये चले और आकाशकी ओर उछल पड़े। आकाशमें

पहुँचकर वे पंखधारी पर्वतकी तरह शोभा पाने लगे। तत्पश्चात् वे शङ्ख और डंकेके निर्घोषके साथ-साथ ढोलों और नगाड़ोंको पीटते हुए त्रिपुरका विनाश करनेके लिये उसी प्रकार आगे बढ़े, जैसे व्याधियाँ शरीरको नष्ट कर देती हैं। इतनेमें त्रिपुरवासी दानवोंने देवगणोंको आगे बढ़ते हुए देख लिया। फिर तो वे महाबली असुर 'शंकर (यहाँ भी) आ गये'—ऐसा कहकर प्रलयकालीन सागरोंकी तरह परम क्षुब्ध हो उठे। तब भयंकर रूपधारी दानव देवताओंकी तुरहियोंका शब्द सुनकर नाना प्रकारके बाजे बजाते हुए बारंबार उच्च स्वरसे गर्जना करने लगे। तत्पश्चात् पुनः पराक्रम प्रकट करनेवाले वे दानव और देव परस्पर क्रुद्ध होकर एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे। दोनों सेनाओंमें समानरूपसे सिंहनाद हो रहे थे। उनके शरीर कट-कटकर गिर रहे थे। फिर तो प्रहार करनेवालोंकी गर्जनाके साथ-साथ अनुपम युद्ध छिड़ गया। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो अनेकों सूर्य गिर रहे हैं, अग्नियाँ प्रज्वलित हो उठी हैं, विषधर सर्प फुफकार मार रहे हैं, पक्षी आकाशमें चक्कर काट रहे हैं, पर्वत काँप रहे हैं, बादल गरज रहे हैं, सिंह जमुहाई ले रहे हैं, भयानक झंझावात चल रहा है और उछलती हुई लहरोंके समूहसे सागर क्षुब्ध हो उठा है। इस प्रकार महान् शूरवीर प्रमथ और महाबली दानव उसी प्रकार डटकर युद्ध कर रहे थे, जैसे महान् पर्वतोंसे टकरानेपर भी वज्र अटल रहता है ॥ १—१० ॥

कार्मुकाणां विकृष्टानां बभूवुर्दारुणा रवाः। कालानुगानां मेघानां यथा वियति वायुना ॥ ११ ॥
आहुश्च युद्धे मा भैषीः क्व यास्यसि मृतो ह्यसि। प्रहराशु स्थितोऽस्म्यत्र एहि दर्शय पौरुषम् ॥ १२ ॥
गृहाण छिन्धि भिन्धीति खाद मारय दारय। इत्यन्योऽन्यमनूच्चार्य प्रययुर्यमसादनम् ॥ १३ ॥
खड्गापवर्जिताः केचित् केचिच्छिन्ना परश्वधैः। केचिन्मुद्गरचूर्णाश्च केचिद् बाहुभिराहताः ॥ १४ ॥
पट्टिशैः सूदिताः केचित् केचिच्छूलविदारिताः।
दानवाः शरपुष्पाभाः सवना इव पर्वताः। निपतन्त्यर्णवजले भीमनक्रतिमिंगिले ॥ १५ ॥
व्यसुभिः सुनिबद्धाङ्गैः पतमानैः सुरेतरैः। सम्बभूवार्णवे शब्दः सजलाम्बुदनिःस्वनः ॥ १६ ॥
तेन शब्देन मकरा नक्रास्तिमितिमिंगिलाः। मत्ता लोहितगन्धेन क्षोभयन्तो महार्णवम् ॥ १७ ॥
परस्परेण कलहं कुर्वाणा भीममूर्तयः। भ्रमन्ते भक्षयन्तश्च दानवानां च लोहितम् ॥ १८ ॥
सरथान् सायुधान् साश्वान् सवस्त्राभरणावृतान्। जग्रसुस्तिमयो दैत्यान् द्रावयन्तो जलेचरान् ॥ १९ ॥
मृधं यथासुराणां च प्रमथानां प्रवर्तते। अम्बरेऽम्भसि च तथा युद्धं चक्रुर्जलेचराः ॥ २० ॥

जैसे आकाशमें वायुद्वारा प्रेरित किये जानेपर प्रलयकालीन मेघोंकी गर्जना होती है, उसी तरह खींचे जाते हुए धनुषोंके भीषण शब्द हो रहे थे। युद्धभूमिमें दोनों ओरके वीर परस्पर 'मत डरो, कहाँ भागकर जाओगे, अब तो तुम मरे ही हो, शीघ्र प्रहार करो, मैं यहाँ खड़ा हूँ, आओ और अपना पुरुषार्थ दिखाओ, पकड़ लो, काट डालो, विदीर्ण कर दो, खा लो, मार डालो, फाड़ डालो'—ऐसा शब्द बोल रहे थे और पुनः शान्त होकर यमलोकके पथिक बन जाते थे। उनमेंसे कुछ वीर तलवारसे काट डाले गये थे, कुछ फरसोंसे छिन्न-भिन्न कर दिये गये थे, कुछ मुद्गरोंकी मारसे चूर्ण-सरीखे हो गये थे, कुछ हाथके चपेटोंसे घायल कर दिये गये, कुछ पट्टिशों (पटों) के प्रहारसे मार डाले गये और कुछ शूलोंसे विदीर्ण कर दिये गये। सरपतके फूलकी-सी कान्तिवाले दानव वनसहित पर्वतोंकी तरह भयंकर नाक और तिमिंगिलोंसे भरे हुए समुद्रके जलमें गिर रहे थे। दानवोंके कवच आदिसे भलीभाँति बँधे हुए प्राणरहित शरीरोंके समुद्रमें गिरनेसे सजल जलधरकी गर्जनाके समान शब्द हो रहा था। उस शब्दसे तथा दानवोंके रुधिरकी गन्धसे मतवाले हुए

मगर, नाक, तिमि और तिमिंगिल आदि जन्तु महासागरको क्षुब्ध कर रहे थे। वे भयंकर आकारवाले जलजन्तु परस्पर झगड़ते हुए दानवोंका रुधिर पान कर चक्कर काट रहे थे। यूथ-के-यूथ मगरमच्छ अन्य जल-जन्तुओंको खदेड़कर रथ, आयुध, अश्व, वस्त्र और आभूषणोंसहित दैत्योंको निगल जाते थे। जिस प्रकार आकाशमें दानवों और प्रमथोंका युद्ध चल रहा था, उसी तरह समुद्रमें जल-जन्तु (शवोंको खानेके लिये) परस्पर लड़ रहे थे॥ ११—२०॥

यथा भ्रमन्ति प्रमथाः सदैत्यास्तथा भ्रमन्ते तिमयः सनक्राः।
यथैव छिन्दन्ति परस्परं तु तथैव क्रन्दन्ति विभिन्नदेहाः॥ २१॥
व्रणाननैरङ्गरसं स्रवद्भिः सुरासुरैर्नक्रतिमिंगिलैश्च।
कृतो मुहूर्तेन समुद्रदेशः सरक्ततोयः समुदीर्णतोयः॥ २२॥
पूर्वं महाम्भोधरपर्वताभं द्वारं महान्तं त्रिपुरस्य शक्रः।
निपीड्य तस्थौ महता बलेन युक्तोऽमराणां महता बलेन॥ २३॥
तथोत्तरं सोऽन्तरजो हरस्य बालार्कजाम्बूनदतुल्यवर्णः।
स्कन्दः पुरद्वारमथारुरोह वृद्धोऽस्तश‍ृङ्गं प्रपतन्निवार्कः॥ २४॥
यमश्च वित्ताधिपतिश्च देवो दण्डान्वितः पाशवरायुधश्च।
देवारिणस्तस्य पुरस्य द्वारं ताभ्यां तु तत्पश्चिमतो निरुद्धम्॥ २५॥
दक्षारिरुद्रस्तपनायुताभः स भास्वता देवरथेन देवः।
तद्दक्षिणद्वारमरेः पुरस्य रुद्ध्वावतस्थौ भगवांस्त्रिनेत्रः॥ २६॥
तुङ्गानि वेश्मानि सगोपुराणि स्वर्णानि कैलासशशिप्रभाणि।
प्रह्लादरूपाः प्रमथावरुद्धा ज्योतींषि मेघा इव चाश्मवर्षाः॥ २७॥
उत्पाट्य चोत्पाट्य गृहाणि तेषां सशैलमालासमवेदिकानि।
प्रक्षिप्य प्रक्षिप्य समुद्रमध्ये कालाम्बुदाभाः प्रमथा विनेदुः॥ २८॥
रक्तानि चाशोपवनैर्युतानि साशोकखण्डानि सकोकिलानि।
गृहाणि हे नाथ पितः सुतेति भ्रातेति कान्तेति प्रियेति चापि।
उत्पाट्यमानेषु गृहेषु नार्यस्त्वनार्यशब्दान् विविधान् प्रचक्रुः॥ २९॥
कलत्रपुत्रक्षयप्राणनाशे तस्मिन् पुरे युद्धमतिप्रवृत्ते।
महासुराः सागरतुल्यवेगा गणेश्वराः कोपवृताः प्रतीयुः॥ ३०॥
परश्वधैस्तत्र शिलोपलैश्च त्रिशूलवज्रोत्तमकम्पनैश्च।
शरीरसंक्षपणं सुघोरं युद्धं प्रवृत्तं दृढवैरबद्धम्॥ ३१॥
अन्योऽन्यमुद्दिश्य विमर्दतां च प्रधावतां चैव विनिघ्नतां च।
शब्दो बभूवामरदानवानां युगान्तकालेष्विव सागराणाम्॥ ३२॥

उस समय जैसे आकाशमें प्रमथगण दैत्योंके साथ युद्ध करते हुए चक्कर काट रहे थे, वैसे ही जलमें मगरमच्छ नाकोंके साथ झगड़ते हुए घूम रहे थे। जैसे देवता और दानव परस्पर एक-दूसरेके शरीरको काट रहे थे, वैसे ही मगरमच्छ और नाक भी एक-दूसरेके शरीरको विदीर्ण कर चीत्कार कर रहे थे। देवताओं, असुरों, नाकों और तिमिंगिलोंके घावों और मुखोंसे बहते हुए रुधिरसे समुद्रके उस प्रदेशका जल मुहूर्तमात्रके लिये रक्तयुक्त हो गया और वहाँ बाढ़ आ गयी। उस त्रिपुरका पूर्वद्वार अत्यन्त विशाल और काले मेघ तथा पर्वतके समान कान्तिमान् था। महान् बलशाली इन्द्र देवताओंकी विशाल सेनाके साथ उस द्वारको अवरुद्ध कर खड़े थे। उसी प्रकार उदयकालीन सूर्य और सुवर्णके तुल्य रंगवाले शंकरजीके आत्मज

*

स्कन्द त्रिपुरके उत्तरद्वारपर ऐसे चढ़े हुए थे मानो बढ़े हुए सूर्य अस्ताचलके शिखरोंपर चढ़ रहे हों। दण्डधारी यमराज और अपने श्रेष्ठ अस्त्र पाशको धारण किये हुए कुबेर—ये दोनों देवता उस देवशत्रु मयके पुरके पश्चिम-द्वारपर घेरा डाले हुए थे। दस हजार सूर्योंकी-सी आभावाले दक्षके शत्रु त्रिनेत्रधारी भगवान् रुद्रदेव उस उद्दीप्त देवरथपर आरूढ़ होकर शत्रु-नगरके दक्षिण-द्वारको रोककर स्थित थे। उस त्रिपुरके फाटकोंसहित स्वर्णनिर्मित ऊँचे-ऊँचे महलोंको, जो कैलास और चन्द्रमाके सदृश चमक रहे थे, प्रसन्न मुखवाले प्रमथोंने उसी प्रकार अवरुद्ध कर रखा था, जैसे उपलोंकी वर्षा करनेवाले मेघ ज्योतिर्गणोंको घेर लेते हैं। काले मेघकी-सी कान्तिवाले प्रमथगण दानवोंके पर्वतमालाके सदृश ऊँची-ऊँची वेदिकाओंसे युक्त गृहोंको, जो लाल वर्णवाले तथा अशोक-वृक्षों एवं अन्यान्य वनोंसे युक्त थे और जिनमें कोयलें कूक रही थीं, उखाड़-उखाड़कर लगातार समुद्रमें फेंक रहे थे और उच्च स्वरसे गर्जना कर रहे थे। गृहोंको उखाड़ते समय उनमें रहनेवाली स्त्रियाँ 'हे नाथ! हा पिता! अरे पुत्र! हाय भाई! हाय कान्त! हे प्रियतम!' आदि अनेक प्रकारके अनार्योचित शब्द बोल रही थीं। इस प्रकार जब उस पुरमें स्त्री, पुत्र तथा प्राणका विनाश करनेवाला अत्यन्त भीषण युद्ध होने लगा, तब सागरतुल्य वेगशाली महान् असुर और गणेश्वर क्रोधसे भर गये। फिर तो कुठार, शिलाखण्ड, त्रिशूल, श्रेष्ठ वज्र और कम्पन* (एक प्रकारका शस्त्र) आदिके प्रहारसे शरीर और गृहको विनष्ट करनेवाला अत्यन्त घोर युद्ध आरम्भ हो गया; क्योंकि दोनों सेनाओंमें सुदृढ़ वैर बँधा हुआ था। परस्पर एक-दूसरेको लक्ष्य करके मर्दन, आक्रमण और प्रहार करनेवाले देवताओं और दानवोंका प्रलयकालमें सागरोंकी गर्जनाकी भाँति भीषण शब्द होने लगा ॥ २१—३२ ॥

व्रणैरजस्रं क्षतजं वमन्तः कोपोपरक्ता बहुधा नदन्तः।
गणेश्वरास्तेऽसुरपुंगवाश्च युध्यन्ति शब्दं च महद्दुद्गिरन्तः ॥ ३३ ॥
मार्गाः पुरे लोहितकर्दमाक्ताः स्वर्णप्रकास्फाटिकभिन्नचित्राः।
कृता मुहूर्तेन सुखेन गन्तुं छिन्नोत्तमाङ्गाङ्घ्रिकराः करालाः ॥ ३४ ॥
कोपावृताक्षः स तु तारकाख्यः संख्ये सवृक्षः सगिरिर्निलीनः।
तस्मिन् क्षणे द्वारवरं ररिक्षो रुद्रं भवेनाद्भुतविक्रमेण ॥ ३५ ॥
स तत्र प्राकारगतांश्च भूताञ्शान्तान् महानद्भुतवीर्यसत्त्वः।
चचार चाप्तेन्द्रियगर्वहस्तः पुराद् विनिष्क्रम्य ररास घोरम् ॥ ३६ ॥
ततः स दैत्योत्तमपर्वताभो यथाञ्जसा नाग इवाभिमत्तः।
निवारितो रुद्ररथं जिघृक्षुर्यथार्णवः सर्पति चातिवेलः ॥ ३७ ॥
शेषः सुधन्वा गिरिशश्च देवश्चतुर्मुखो यः स त्रिलोचनश्च।
ते तारकाख्याभिगतागताजौ क्षोभं यथा वायुवशात् समुद्राः ॥ ३८ ॥
शेषो गिरीशः सपितामहेशश्चोत्क्षुभ्यमाणः स रथेऽम्बरस्थः।
बिभेद संधीषु बलाभिपन्नः कूजन् निनादांश्च करोति घोरान् ॥ ३९ ॥
एकं तु ऋग्वेदतुरंगमस्य पृष्ठे पदं न्यस्य वृषस्य चैकम्।
तस्थौ भवः सोद्यतबाणचापः पुरस्य तत्सङ्गमवीक्षमाणः ॥ ४० ॥
तदा भवपदन्यासाद्धयस्य वृषभस्य च। पेतुः स्तनाश्च दन्ताश्च पीडिताभ्यां त्रिशूलिना ॥ ४१ ॥
ततःप्रभृति चाश्वानां स्तना दन्ता गवां तथा। गूढाः समभवंस्तेन चादृश्यत्वमुपागताः ॥ ४२ ॥

* यह एक शस्त्र है। इसका वर्णन महाभारत १। ६९। २३ आदिमें आता है।

तारकाख्यस्तु भीमाक्षो रौद्ररक्तान्तरेक्षणः। रुद्रान्तिके सुसंरुद्धो नन्दिना कुलनन्दिना ॥ ४३ ॥
परश्वधेन तीक्ष्णेन स नन्दी दानवेश्वरम्। तक्षयामास वै तक्षा चन्दनं गन्धदो यथा ॥ ४४ ॥
परश्वधहतः शूरः शैलादिः शरभो यथा। दुद्राव खड्गं निष्कृष्य तारकाख्यो गणेश्वरम् ॥ ४५ ॥
यज्ञोपवीतमार्गेण चिच्छेद च ननाद च।
ततः सिंहरवो घोरः शङ्खशब्दश्च भैरवः। गणेश्वरैः कृतस्तत्र तारकाख्ये निपूदिते ॥ ४६ ॥

उस समय वे गणेश्वर और असुरश्रेष्ठ घावोंसे निरन्तर रक्तकी धारा बहाते हुए, बारंबार गरजते हुए और भयंकर शब्द बोलते हुए युद्ध कर रहे थे। उस पुरमें स्वर्ण और स्फटिक मणिकी ईंटोंसे बने हुए जो चित्र-विचित्र मार्ग थे, वे दो ही घड़ीमें रुधिरयुक्त कीचड़से भर दिये गये। जो सुखपूर्वक चलनेयोग्य थे, वे कटे हुए मस्तकों, पादों और पैरोंसे व्याप्त हो जानेके कारण दुर्गम हो गये। तब तारकासुर क्रोधसे आँखें तरेरता हुआ वृक्ष और पर्वत हाथमें लेकर युद्धस्थलमें आ पहुँचा। वह उस समय अद्भुत पराक्रमी शंकरद्वारा अवरुद्ध किये गये दक्षिण-द्वारकी रक्षा करना चाहता था। महान् पराक्रमी एवं अद्भुत सत्त्वशाली तारकासुर अपनी इन्द्रियोंके गर्वसे उन्मत्त होकर परकोटेपर चढ़े हुए भूतगणोंको काटकर वहाँ विचरण करने लगा। पुनः नगरसे बाहर निकलकर उसने घोर गर्जना की। पर्वतकी-सी आभावाला दैत्येन्द्र तारक मतवाले हाथीकी तरह शीघ्र ही शंकरजीके रथको पकड़ लेना चाहता था, परंतु प्रमथोंद्वारा इस प्रकार रोक दिया गया, जैसे बढ़ते हुए समुद्रको उसका तट रोक देता है। उस समय शेषनाग, ब्रह्मा तथा सुन्दर धनुष धारण करनेवाले और पर्वतपर शयन करनेवाले त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकर युद्धस्थलमें तारकासुरके आ जानेसे उसी प्रकार क्षुब्ध हो गये, जैसे वायुके वेगसे सागर उद्वेलित हो उठते हैं। आकाशस्थित रथपर बैठे हुए बलसम्पन्न शेष नाग, शंकर और ब्रह्माने विशेष क्षुब्ध होकर पृथक्-पृथक् तारकासुरके शरीरकी संधियोंको बींध दिया और वे घोर गर्जना करने लगे। उस समय हाथमें धनुष-बाण लिये हुए भगवान् शंकर अपना एक पैर ऋग्वेदरूप घोड़ेकी तथा दूसरा पैर नन्दीश्वरकी पीठपर रखकर त्रिपुरोंके परस्पर सम्मिलनकी प्रतीक्षा करते हुए खड़े हो गये। उस समय शंकरजीके पैर रखनेसे उन त्रिशूलधारीके भारसे पीड़ित हुए अश्वके स्तन और वृषभके दाँत टूटकर गिर पड़े। तभीसे घोड़ोंके स्तन और गो-वंशके (ऊपरी जबड़ेके) दाँत गुप्त हो गये। इसी कारण वे दिखायी नहीं पड़ते। उसी समय जिसके नेत्रोंके अन्तर्भाग भयंकर और लाल थे, उस भीषण नेत्रोंवाले तारकासुरको भगवान् रुद्रके निकट आते देखकर कुलको आनन्दित करनेवाले नन्दीने रोक दिया तथा उन्होने अपने तीखे कुठारसे उस दानवेश्वरके शरीरको इस प्रकार छील डाला, जैसे गन्धकी इच्छावाला (अथवा इत्र बनानेवाला) बढ़ई चन्दन-वृक्षको छाँट देता है। कुठारके आघातसे आहत हुए शूरवीर तारकासुरने पर्वतीय सिंहकी तरह क्रुद्ध होकर म्यानसे तलवार खींचकर गणेश्वर नन्दीपर आक्रमण किया। तब नन्दीश्वरने यज्ञोपवीत-मार्गसे (अर्थात् जनेऊ पहननेकी जगह—बाएँ कंधेसे लेकर दाहिने कटितटतक) तिरछे रूपमें तारकासुरके शरीरको विदीर्ण कर दिया और भयंकर गर्जना की। फिर तो वहाँ तारकासुरके मारे जानेपर गणेश्वरोंके भयंकर सिंहनाद गूँज उठे और उनके शङ्खोंके भीषण शब्द होने लगे ॥ ३३—४६ ॥

प्रमथारसितं श्रुत्वा वादित्रस्वनमेव च। पार्श्वस्थः सुमहापार्श्वं विद्युन्मालि मयोऽब्रवीत् ॥ ४७ ॥
बहुवदनवतां किमेष शब्दो नदतां श्रूयते भिन्नसागराभः।
वद वद त्वं तडिमालिन् किमेतद्गणपा युयुधुर्यथा गजेन्द्राः ॥ ४८ ॥

इति मयवचनाङ्कुशार्दितस्तं तडिमाली रविरिवांशुमाली ।
रणशिरसि समागतः सुराणां निजगादेदमरिन्दमोऽतिदुःखात् ॥ ४९ ॥
यमवरुणमहेन्द्ररुद्रवीर्यस्तव यशसो निधिर्धीरः तारकाख्यः ।
सकलसमरशीर्षपर्वतेन्द्रो युद्ध्वा यस्तपति हि तारको गणेन्द्रैः ॥ ५० ॥
मृदितमुपनिशम्य तारकाख्यं रविदीप्तानलभीषणायताक्षम् ।
हृषितसकलनेत्रलोमसत्त्वाः प्रमथास्तोयमुचो तथा नदन्ति ॥ ५१ ॥
इति सुहृदो वचनं निशम्य तत्त्वं तडिमालेः स मयः सुवर्णमाली ।
रणशिरस्यसिताञ्जनाचलाभो जगदे वाक्यमिदं नवेन्दुमालिम् ॥ ५२ ॥
विद्युन्मालिन्न नः कालः साधितुं ह्यवहेलया । करोमि विक्रमेणैतत् पुरं व्यसनवर्जितम् ॥ ५३ ॥
विद्युन्माली ततः क्रुद्धो मयश्च त्रिपुरेश्वरः । गणान् जघ्नुस्तु द्राघिष्ठाः सहितास्तैर्महासुरैः ॥ ५४ ॥
येन येन ततो विद्युन्माली याति मयश्च सः । तेन तेन पुरं शून्यं प्रमथोपहुतंकृतम् ॥ ५५ ॥
अथ यमवरुणमृदङ्गघोषैः पणवडिण्डिमज्यास्वनप्रघोषैः ।
सकरतलपुटैश्च सिंहनादैर्भवमभिपूज्य तदा सुरावतस्थुः ॥ ५६ ॥
सम्पूज्यमानोऽदितिजैर्महात्मभिः सहस्ररश्मिप्रतिमौजसैर्विभुः ।
अभिष्टुतः सत्यरतैस्तपोधनैर्यथास्तशृङ्गाभिगतो दिवाकरः ॥ ५७ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरदाहे तारकाख्यवधो नामाष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

तब प्रमथगणोंके सिंहनाद और उनके बाजोंके भीषण शब्दको सुनकर बगलमें ही स्थित मय दानवने महान् बलशाली विद्युन्मालीसे पूछा—'विद्युन्मालिन् ! बताओ तो सही, अनेकों मुखोंवाले प्रमथगणोंका सागरकी गर्जनाके समान यह भयंकर सिंहनाद क्यों सुनायी पड़ रहा है ? ये गणेश्वर क्यों गजराजसे गरजते हुए इतने उत्साहसे युद्ध कर रहे हैं ?' इस प्रकार मयके वचनरूपी अङ्कुशसे पीड़ित हुआ किरणमाली सूर्यकी तरह तेजस्वी शत्रुदमन विद्युन्माली, जो तुरंत ही देवताओंके युद्धके मुहानेसे लौटकर आया था, अत्यन्त दुःखके साथ मयसे इस प्रकार बोला—'धैर्यशाली राजन् ! जो यम, वरुण, महेन्द्र और रुद्रके समान पराक्रमी, आपकी कीर्तिका निधिस्वरूप, समस्त युद्धोंके मुहानेपर पर्वतराजकी भाँति डटा रहनेवाला और युद्धभूमिमें शत्रुओंके लिये संतापदायक था, वह तारक गणेश्वरोंद्वारा निहत हो गया । सूर्य एवं प्रज्वलित अग्निके समान भयंकर विशाल नेत्रोंवाले तारकको मारा गया सुनकर हर्षके कारण सभी प्रमथोंके शरीर पुलकित और नेत्र उत्फुल्ल हो गये हैं और वे बादलोंकी तरह गर्जना कर रहे हैं ।' अपने मित्र विद्युन्मालीके इस तत्त्वपूर्ण वचनको सुनकर कज्जलगिरिके सदृश शरीरवाला स्वर्णमालाधारी मय रणके मुहानेपर विद्युन्मालीसे इस प्रकार बोला—'विद्युन्मालिन् ! अब हमलोगोंके लिये अवहेलना (प्रमाद) पूर्वक समय बिताना ठीक नहीं है । मैं अपने पराक्रमसे पुनः इस त्रिपुरको आपत्तिरहित बनाऊँगा ।' फिर तो विद्युन्माली और त्रिपुराधिपति मय—दोनोंने क्रुद्ध होकर महासुरोंकी विशाल सेनाके साथ गणेश्वरोंको मारना आरम्भ किया । उस समय त्रिपुरमें विद्युन्माली और मय जिस-जिस मार्गसे निकलते थे, वे मार्ग प्रमथोंके घायल होकर भाग जानेसे शून्य हो जाते थे । तब यम और वरुणके मृदंगघोष और ढोल, नगारे एवं धनुषकी प्रत्यञ्चाके निनादके साथ-साथ ताली बजाते और सिंहनाद करते हुए सभी देवगण शंकरजीकी पूजा करके उन्हें घेरकर खड़े हो गये । सूर्यके समान तेजस्वी उन महात्मा देवगणोंद्वारा पूजित होते हुए तथा सत्यपरायण तपस्वियोंद्वारा स्तुति किये जाते हुए भगवान् शंकर अस्ताचलके शिखरपर पहुँचे हुए सूर्यकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ ४७—५७ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके त्रिपुरदाहके प्रसङ्गमें तारकासुर-वध नामक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३८ ॥

एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय

दानवराज मयका दानवोंको समझा-बुझाकर त्रिपुरकी रक्षामें नियुक्त करना तथा त्रिपुरकौमुदीका वर्णन

सूत उवाच

तारकाख्ये हते युद्धे उत्सार्य प्रमथान् मयः। उवाच दानवान् भूयोभूयः स तु भयावृतान् ॥ १ ॥
भोऽसुरेन्द्राधुना सर्वे निबोधध्वं प्रभाषितम्। यत् कर्तव्यं मया चैव युष्माभिश्च महाबलैः ॥ २ ॥
पुष्यं समेष्यते काले चन्द्रश्चन्द्रनिभानना:। यदैकं त्रिपुरं सर्वं क्षणमेकं भविष्यति ॥ ३ ॥
कुरुध्वं निर्भयाः काले पिशुनाशंसितेन च। स कालः पुष्ययोगस्य पुरस्य च मया कृतः ॥ ४ ॥
काले तस्मिन् पुरे यस्तु सम्भावयति संहतिम्। स एनं कारयेच्चूर्णं बलिनैकेषुणा सुरः ॥ ५ ॥
यो वः प्राणो बलं यच्च या च वो वैरिताऽसुराः। तत् कृत्वा हृदये चैव पालयध्वमिदं पुरम् ॥ ६ ॥
महेश्वररथं ह्येकं सर्वप्राणेन भीषणम्। विमुखीकुर्वतात्यर्थं यथा नोत्सृजते शरम् ॥ ७ ॥
तत एवं कृतेऽस्माभिस्त्रिपुरस्यापि रक्षणे। प्रतीक्षिष्यन्ति विवशाः पुष्ययोगं दिवौकसः ॥ ८ ॥
निशम्य तन्मयस्यैकं दानवास्त्रिपुरालयाः। मुहुः सिंहरवं कृत्वा मयमूचुर्यमोपमाः ॥ ९ ॥
प्रयत्नेन वयं सर्वे कुर्मस्तव प्रभाषितम्। तथा कुर्मो यथा रुद्रो न मोक्ष्यति पुरे शरम् ॥ १० ॥
अद्य यास्यामः संग्रामे तद्रुद्रस्य जिघांसवः। कथयन्ति दितेः पुत्रा हृष्टा भिन्नतनूरुहाः ॥ ११ ॥
कल्पं स्थास्यति वा खस्थं त्रिपुरं शाश्वतं ध्रुवम्। अदानवं वा भविता नारायणपदत्रयम् ॥ १२ ॥
वयं न धर्मं हास्यामो यस्मिन् योक्ष्यति नो भवान्। अदैवतमदैत्यं वा लोकं द्रक्ष्यन्ति मानवाः ॥ १३ ॥
इति सम्मन्त्र्य हृष्टास्ते पुरान्तर्विबुधारयः। प्रदोषे मुदिता भूत्वा चेरुर्मन्मथचारताम् ॥ १४ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! इस प्रकार युद्धभूमिमें तारकासुरके मारे जानेपर दानवराज मय प्रमथोंको खदेड़कर भयभीत हुए दानवोंको सब तरहसे सान्त्वना देते हुए बोला—'अये असुरेन्द्रो! इस समय तुम सभी महाबली दानवोंका जो कर्तव्य है, उसे मैं बतला रहा हूँ, सब लोग ध्यान देकर सुनो। चन्द्रवदन दानवो! जिस समय चन्द्रमा पुष्य नक्षत्रसे समन्वित होंगे, उस समय एक क्षणके लिये तीनों पुर एकमें मिल जायँगे। यह चन्द्रमाका पुष्य नक्षत्रसे सम्बन्ध होनेपर त्रिपुरके सम्मिलित होनेका काल मैंने ही निर्धारित कर रखा है, अतः उस समय तुमलोग निर्भय होकर नारदजीद्वारा बतलाये गये उपायोंका प्रयोग करो; क्योंकि उस समय जो कोई देवता त्रिपुरोंके सम्मिलित होनेका पता लगा लेगा, वह एक ही सुदृढ बाणसे इस त्रिपुरको चूर्ण कर डालेगा। इसलिये असुरो! तुमलोगोंमें जितनी प्राणशक्ति है, जितना बल है और देवताओंके साथ जितना वैर-विद्वेष है, वह सब हृदयमें विचारकर इस त्रिपुरकी रक्षामें जुट जाओ। तुमलोग एकमात्र महेश्वरके भीषण रथको पूरी शक्ति लगाकर ऐसा विमुख कर दो, जिससे वे बाण न छोड़ सकें। इस प्रकार हमलोगोंद्वारा त्रिपुरकी रक्षा सम्पन्न कर लेनेपर देवताओंको विवश होकर पुनः आनेवाले पुष्ययोगकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।' मयका ऐसा कथन सुनकर यमराजके समान भीषण त्रिपुरनिवासी दानव बारंबार सिंहनाद कर मयसे बोले—'राजन्! हम सबलोग प्रयत्नपूर्वक आपके कथनका पालन करेंगे और ऐसा कर्म कर दिखायेंगे, जिससे रुद्र त्रिपुरपर बाण नहीं छोड़ सकेंगे। हमलोग आज ही उस रुद्रका वध करनेके लिये संग्रामभूमिमें जा रहे हैं। या तो हमारा त्रिपुर कल्पपर्यन्त निश्चलरूपसे सर्वदाके लिये आकाशमें स्थिर रहेगा अथवा नारायणके तीन पदकी तरह यह दानवोंसे खाली हो जायगा। आप हमलोगोंको जिस कार्यमें नियुक्त कर देंगे, हमलोग उस कर्तव्यका कदापि त्याग नहीं करेंगे। आज मानव जगत्‌को देवता अथवा दैत्यसे रहित ही देखेंगे।'

पुलकित शरीरवाले दैत्य हर्षपूर्वक इस प्रकार कह रहे थे। इस प्रकार वे देवशत्रु दानव त्रिपुरके भीतर मन्त्रणा करके सायंकाल होनेपर प्रसन्न होकर स्वच्छन्दाचारमें प्रसक्त हो गये ॥ १—१४ ॥

मुहुर्मुक्तोदयो भ्रान्त उदयाग्रं महामणिः । तमांस्युत्सार्य भगवांश्चन्द्रो जृम्भति सोऽम्बरम् ॥ १५ ॥
कुमुदालंकृते हंसो यथा सरसि विस्तृते । सिंहो यथा चोपविष्टो वैदूर्यशिखरे महान् ॥ १६ ॥
विष्णोर्यथा च विस्तीर्णे हारश्चोरसि संस्थितः ।
तथावगाढे नभसि चन्द्रोऽत्रिनयनोद्भवः । भ्राजते भ्राजयँल्लोकान् सृजञ्ज्योत्स्नारसं बलात् ॥ १७ ॥
शीतांशावुदिते चन्द्रे ज्योत्स्नापूर्णे पुरेऽसुराः । प्रदोषे ललितं चक्रुर्गृहमात्मानमेव च ॥ १८ ॥
रथ्यासु राजमार्गेषु प्रासादेषु गृहेषु च । दीपाश्चम्पकपुष्पाभा नाल्पस्नेहप्रदीपिताः ॥ १९ ॥
तदा मठेषु ते दीपाः स्नेहपूर्णाः प्रदीपिताः ।
गृहाणि वसुमन्त्येषां सर्वरत्नमयानि च । ज्वलतोऽदीपयन् दीपांश्चन्द्रोदय इव ग्रहाः ॥ २० ॥
चन्द्रांशुभिर्भासमानमन्तर्दीपैः सुदीपितम् । उपद्रवैः कुलमिव पीयते त्रिपुरे तमः ॥ २१ ॥
तस्मिन् पुरे वै तरुणप्रदोषे चन्द्राट्टहासे तरुणप्रदोषे ।
रत्यर्थिनो वै दनुजा गृहेषु सहाङ्गनाभिः सुचिरं विरेमुः ॥ २२ ॥
विनोदिता ये तु वृषध्वजस्य पञ्चेषवस्ते मकरध्वजेन ।
तत्रासुरेष्वासुरपुङ्गवेषु स्वाङ्गाङ्गनाः स्वेदयुता बभूवुः ॥ २३ ॥
कलप्रलापेषु च दानवीनां वीणाप्रलापेषु च मूर्च्छितांस्तु ।
मत्तप्रलापेषु च कोकिलानां सचापबाणो मदनो ममन्थ ॥ २४ ॥
तमांसि नैशानि द्रुतं निहत्य ज्योत्स्नावितानेन जगद्वितत्य ।
खे रोहिणीं तां च प्रियां समेत्य चन्द्रः प्रभाभिः कुरुतेऽधिराज्यम् ॥ २५ ॥
स्थित्वैव कान्तस्य तु पादमूले काचिद् वरस्त्री स्वकपोलमूले ।
विशेषकं चारुतरं करोति तेनाननं स्वं समलंकरोति ॥ २६ ॥
दृष्ट्वाननं मण्डलदर्पणस्थं महाप्रभा मे मुखजेति जल्पवा ।
स्मृत्वा वराङ्गी रमणैरितानि तेनैव भावेन रतीमवाप ॥ २७ ॥
रोमाञ्चितैर्गात्रवरैर्युवभ्यो रतानुरागाद्रमणेन चान्याः ।
स्वयं द्रुतं यान्ति मदाभिभूताः क्षपा यथा चार्कदिनावसाने ॥ २८ ॥
पेपीयते चातिरसानुविद्धा विमार्गितान्या च प्रियं प्रसन्ना ।
काचित् प्रियस्यातिचिरात् प्रसन्ना आसीत् प्रलापेषु च सम्प्रसन्ना ॥ २९ ॥
गोशीर्षयुक्तैर्हरिचन्दनैश्च पङ्काङ्किताक्षीरधराऽऽसुरीणाम् ।
मनोज्ञरूपा रुचिरा बभूवुः पूर्णामृतस्येव सुवर्णकुम्भाः ॥ ३० ॥

उसी समय बारंबार मोतीके उत्पन्न करनेवाले एवं महामणिके समान भगवान् चन्द्रमा उदयाचलके शिखरपर दीख पड़े । वे अन्धकारका विनाश करके आकाशमण्डलमें आगे बढ़ रहे थे । उस समय जैसे कुमुदिनीसे सुशोभित विशाल सरोवरमें हंस, वैदूर्यके शिखरपर बैठा हुआ महान् सिंह और भगवान् विष्णुके विस्तीर्ण वक्षःस्थलपर लटकता हुआ हार शोभा पाता है, उसी तरह महर्षि अत्रिके नेत्रसे उत्पन्न हुए चन्द्रमा अथाह आकाशमें स्थित होकर अपनी चाँदनीसे बलपूर्वक सारे लोकोंको सींचते एवं प्रकाशित करते हुए सुशोभित हो रहे थे । इस प्रकार सायंकालमें शीतरश्मि चन्द्रमाके उदय होनेपर जब त्रिपुरमें चाँदनी फैल गयी, तब असुरगण अपने-अपने गृहोंको सजाने लगे । गलियों, सड़कों, महलों और गृहोंमें तेलसे भरे

हुए दीपक जला दिये गये, जो चम्पाके पुष्पकी भाँति सुशोभित हो रहे थे। उसी प्रकार देवालयोंमें भी तेलसे परिपूर्ण दीपक जलाये गये। दानवोंके गृह धन-सम्पत्तिसे परिपूर्ण तो थे ही, उनमें अनेक प्रकारके रत्न भी जड़े हुए थे, जिससे वे जलते हुए दीपकोंको चन्द्रोदय होनेपर ग्रहोंकी तरह अधिक उद्दीप्त कर रहे थे॥ १५—३० ॥

क्षताधरोष्ठा द्रुतदोषरक्ता ललन्ति दैत्या दयितासु रक्ताः।
तन्त्रीप्रलापास्त्रिपुरेषु रक्ताः स्त्रीणां प्रलापेषु पुनर्विरक्ताः॥ ३१ ॥
क्वचित् प्रवृत्तं मधुराभिगानं कामस्य बाणैः सुकृतं निधानम्।
आपानभूमीषु सुखप्रमेयं गेयं प्रवृत्तं त्वथ साधयन्ति॥ ३२ ॥
गेयं प्रवृत्तं त्वथ शोधयन्ति केचित् प्रियां तत्र च साधयन्ति।
केचित् प्रियां सम्प्रति बोधयन्ति सम्बुध्य सम्बुध्य च रामयन्ति॥ ३३ ॥
चूतप्रसूनप्रभवः सुगन्धः सूर्ये गते वै त्रिपुरे बभूव।
सममरो नूपुरमेखलानां शब्दश्च सम्बाधति कोकिलानाम्॥ ३४ ॥
प्रियावगूढा दयितोपगूढा काचित् प्ररूढाङ्करुहापि नारी।
सुचारुबाष्पाङ्कुरपल्लवानां नवाम्बुसिक्ता इव भूमिरासीत्॥ ३५ ॥
शशाङ्कपादैरुपशोभितेषु प्रासादवर्येषु वराङ्गनानाम्।
माधुर्यभूताभरणामहान्तः स्वना बभूवुर्मदनेषु तुल्याः॥ ३६ ॥
पानेन खिन्ना दयितातिवेलं कपोलमाश्वासि च किं ममेदम्।
आरोह मे श्रोणिमिमां विशालां पीनोन्नतां काञ्चनमेखलाढ्याम्॥ ३७ ॥
रथ्यासु चन्द्रोदयभासितासु सुरेन्द्रमार्गेषु च विस्तृतेषु।
दैत्याङ्गना यूथगता विभान्ति तारा यथा चन्द्रमसो दिवान्ते॥ ३८ ॥
अट्टाट्टहासेषु च चामरेषु प्रेङ्खासु चान्या मदलोलभावात्।
संदोलयन्ते कलसम्प्रहासाः प्रोवाच काञ्चीगुणसूक्ष्मनादा॥ ३९ ॥
अम्लानमालान्वितसुन्दरीणां पर्याय एषोऽस्ति च हर्षितानाम्।
श्रूयन्ति वाचः कलधौतकल्पा वापीषु चान्ये कलहंसशब्दाः॥ ४० ॥
काञ्चीकलापश्च सहाङ्गरागः प्रेङ्खासु तद्रागकृताश्च भावाः।
छिन्दन्ति तासामसुराङ्गनानां प्रियालयान् मन्मथमार्गणानाम्॥ ४१ ॥
चित्राम्बरश्चोद्धृतकेशपाशः संदोल्यमानः शुशुभेऽसुरीणाम्।
सुचारुवेशाभरणैरुपेतस्तारागणैर्ज्योतिरिवास चन्द्रः॥ ४२ ॥
सन्दोलनादुच्छ्वसितैश्छिन्नसूत्रैः काञ्चीभ्रष्टैर्मणिभिर्विप्रकीर्णैः।
दोलभूमिस्तैर्विचित्रा विभाति चन्द्रस्य पार्श्वोपगतैर्विचित्रा॥ ४३ ॥
सचन्द्रिके सोपवने प्रदोषे रुतेषु वृन्देषु च कोकिलानाम्।
शरव्ययं प्राप्य पुरेऽसुराणां प्रक्षीणबाणो मदनश्चचार॥ ४४ ॥

वे भवन बाहरसे तो चन्द्रमाकी किरणोंसे प्रकाशित थे और भीतर जलते हुए दीपकोंसे उद्दीप्त हो रहे थे, जिससे वे त्रिपुरके अन्धकारको उसी प्रकार पीकर नष्ट कर रहे थे, जैसे उपद्रवोंके प्रकोपसे कुल नष्ट हो जाता है। रात्रिके समय जब चन्द्रमाकी उज्ज्वल छटा पूरे त्रिपुरमें फैल गयी, तब दानवगण रात बितानेके लिये अपनी पत्नियोंके साथ अपने-अपने गृहोंमें चले गये। इधर रात बीती और कोयलें कूजने लगीं॥ ३१—४४ ॥

इति तत्र पुरेऽमरद्विषाणां सपदि हि पश्चिमकौमुदी तदासीत्।
रणशिरसि पराभविष्यतां वै भवतुरगैः कृतसंक्षया अरीणाम् ॥ ४५ ॥
चन्द्रोऽथ कुन्दकुसुमाकरहारवर्णो ज्योत्स्नावितानरहितोऽभ्रसमानवर्णः।
विच्छायतां हि समुपेत्य न भाति तद्वद् भाग्यक्षये धनपतिश्च नरो विवर्णः॥ ४६ ॥
चन्द्रप्रभामरुणसारथिनाभिभूय संतप्तकाञ्चनरथाङ्गसमानबिम्बः।
स्थित्वोदयाग्रमुकुटे बहुरेव सूर्यो भात्यम्बरे तिमिरतोयवहां तरिष्यन् ॥ ४७ ॥
इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरकौमुदीनामैकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३९ ॥

कुछ देर बाद त्रिपुरमें युद्धके मुहानेपर शंकरजीके घोड़ोंद्वारा पराजित किये गये शत्रुओंकी क्षीण कीर्तिकी तरह उन देवशत्रुओंके नगरमें एकाएक चतुर्थ प्रहरकी क्षीण चाँदनी दीख पड़ने लगी। उस समय कुन्दके पुष्पसमूहोंसे निर्मित हारके समान उज्ज्वल वर्णवाले चन्द्रमा किरण-जालके क्षीण हो जानेके कारण निर्जल बादलकी तरह दीखने लगे। चाँदनीके नष्ट हो जानेपर चन्द्रमाकी शोभा उसी प्रकार जाती रही, जैसे धन-सम्पत्तिसे सम्पन्न मनुष्य भाग्यके नष्ट हो जानेपर शोभाहीन हो जाता है। उस समय तपाये हुए स्वर्णमय चक्रके समान बिम्बवाले सूर्य अपने सारथि अरुणकी प्रभासे चन्द्रमाकी कान्तिको तिरस्कृत कर उदयाचलके अग्र शिखरपर स्थित हुए और आकाशमण्डलमें अन्धकाररूपी नदीको पार करते हुए शोभा पा रहे थे ॥ ४५—४७ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें त्रिपुरकौमुदी नामक एक सौ उन्तालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १३९ ॥

एक सौ चालीसवाँ अध्याय

देवताओं और दानवोंका भीषण संग्राम, नन्दीश्वरद्वारा विद्युन्मालीका वध, मयका पलायन तथा शंकरजीकी त्रिपुरपर विजय

सूत उवाच

उदिते तु सहस्रांशौ मेरौ भासाकरे रवौ। नदद्देव बलं कृत्स्नं युगान्त इव सागराः ॥ १ ॥
सहस्रनयनो देवस्ततः शक्रः पुरंदरः। सवित्तदः सवरुणस्त्रिपुरं प्रययौ हरः ॥ २ ॥
ते नानाविधिरूपैश्च प्रमथातिप्रमाथिनः। ययुः सिंहरवैर्घोरैर्वादित्रनिनदैरपि ॥ ३ ॥
ततो वादितवादित्रैश्चातपत्रैर्महाद्रुमैः। बभूव तद्बलं दिव्यं वनं प्रचलितं यथा ॥ ४ ॥
तदापतन्तं सम्प्रेक्ष्य रौद्रं रुद्रबलं महत्। संक्षोभो दानवेन्द्राणां समुद्रप्रतिमो बभौ ॥ ५ ॥
ते चासीन् पट्टिशान् शक्तीः शूलदण्डपरश्वधान्। शरासनानि चक्राणि गुरूणि मुसलानि च ॥ ६ ॥
प्रगृह्य कोपरक्ताक्षाः सपक्षा इव पर्वताः। निजघ्नुः पर्वतघ्नाय घना इव तपात्यये ॥ ७ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! प्रकाश बिखेरनेवाले सहस्रांशुमाली सूर्यके मेरुगिरिपर उदित होते ही सारी-की-सारी देव-सेना प्रलयकालीन सागरकी तरह उच्च स्वरसे गर्जना करने लगी। तब भगवान् शंकर सहस्र-नेत्रधारी पुरंदर इन्द्र, कुबेर और वरुणको साथ लेकर त्रिपुरकी ओर प्रस्थित हुए। उनके पीछे विभिन्न रूपधारी शत्रुविनाशक प्रमथगण भीषण सिंहनाद करते और बाजा बजाते हुए चले। उस समय बजते हुए बाजों, छत्रों और विशाल वृक्षोंसे युक्त होनेके कारण वह देवसेना ऐसी लग रही थी, मानो चलता-फिरता वन हो। तत्पश्चात् शंकरजीकी उस विशाल भयंकर सेनाको आक्रमण करते देखकर दानवेन्द्रोंका समूह सागरकी तरह संक्षुब्ध हो उठा। फिर तो पंखधारी पर्वतोंकी भाँति विशालकाय दानवोंके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। वे खड्ग, पट्टिश (पट्टे), शक्ति, शूल, दण्ड, कुठार, धनुष, वज्र तथा बड़े-बड़े मूसलोंको लेकर एक साथ ही इन्द्रपर इस प्रकार प्रहार करने लगे, जैसे ग्रीष्म ऋतुके बीत जानेपर बादल जलकी वृष्टि करते हैं ॥ १—७ ॥

सविद्युन्मालिनस्ते वै समया दितिनन्दनाः। मोदमानाः समासेदुर्देवदेवैः सुरारयः ॥ ८ ॥
मर्तव्यकृतबुद्धीनां जये चानिश्चितात्मनाम्। अबलानां चमूर्ह्यासीदबलावयवा इव ॥ ९ ॥
विगर्जन्त इवाम्भोदा अम्भोदसदृशत्विषः। प्रयुध्य युद्धकुशलाः परस्परकृतागसः ॥ १० ॥
धूमायन्तो ज्वलद्भिश्च आयुधैश्चन्द्रवर्चसैः। कोपाद् वा युद्धलुब्धाश्च कुट्टयन्ते परस्परम् ॥ ११ ॥
वज्राहताः पतन्त्यन्ये बाणैरन्ये विदारिताः। अन्ये विदारिताश्चक्रैः पतन्ति ह्युदधेर्जले ॥ १२ ॥
छिन्नस्रग्दामहाराश्च प्रमृष्टाम्बरभूषणाः। तिमिनक्रगणे चैव पतन्ति प्रमथाः सुराः ॥ १३ ॥
गदानां मुसलानां च तोमराणां परश्वधाम्। वज्रशूलर्ष्टिपातानां पट्टिशानां च सर्वतः ॥ १४ ॥
गिरिशृङ्गोपलानां च प्रेरितानां प्रमन्युभिः।
सजवानां दानवानां सधूमानां रवित्विषाम्। आयुधानां महानाघः सोगरौघे पतत्यपि ॥ १५ ॥
प्रवृद्धवेगैस्तैस्तत्र सुरासुरकरेरितैः। आयुधैस्त्रस्तनक्षत्रः क्रियते संक्षयो महान् ॥ १६ ॥
क्षुद्राणां गजयोर्युद्धे यथा भवति सङ्क्षयः। देवासुरगणैस्तद्वत् तिमिनक्रक्षयोऽभवत् ॥ १७ ॥

इस प्रकार मयसहित देवशत्रु दैत्यगण विद्युन्मालीके साथ होकर प्रसन्नतापूर्वक देवेश्वरोंसे टक्कर लेने लगे। उनके मनमें विजयकी आशा तो थी ही नहीं, अतः वे मरनेपर उतारू हो गये थे। उन बलहीनोंकी सेना स्त्रियोंके अवयवोंकी तरह दुर्बल थी। मेघकी-सी कान्तिवाले युद्धकुशल दैत्य परस्पर एक-दूसरेपर प्रहार करते हुए लड़ रहे थे और मेघके समान गरज रहे थे। युद्धलोभी सैनिक प्रज्वलित अग्नि एवं चन्द्रमाके समान तेजस्वी अस्त्रोंद्वारा क्रोधपूर्वक परस्पर एक-दूसरेको मार-पीट —कूट रहे थे। कुछ लोग वज्रसे घायल होकर, कुछ लोग बाणोंसे विदीर्ण होकर और कुछ लोग चक्रोंसे छिन्न-भिन्न होकर समुद्रके जलमें गिर रहे थे। (दैत्योंकी मारसे) जिनकी मालाओंके सूत्र और हार टूट गये थे तथा जिनके वस्त्र और आभूषण नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे, वे देवता और गणेश्वर समुद्रमें मगरमच्छों एवं नाकोंके मध्यमें गिर रहे थे। धूमयुक्त सूर्यकी-सी कान्तिवाले वेगशाली दानवोंद्वारा क्रोधपूर्वक चलाये गये गदा, मुसल, तोमर, कुठार, वज्र, शूल, ऋष्टि, पट्टिश, पर्वत-शिखर और शिलाखण्ड आदि आयुधोंका महान् समूह सागरमें गिर रहा था। देवताओं और असुरोंके हाथोंसे वेगपूर्वक चलाये गये आयुधोंसे नक्षत्रगण (भी) त्रस्त हो रहे थे। और महान् संहार हो रहा था। जैसे दो हाथियोंके लड़ते समय क्षुद्र जीवोंका विनाश हो जाता है, उसी तरह देवताओं और असुरोंके संग्रामसे मगरमच्छ और नाकोंका संहार होने लगा ॥ ८—१७ ॥

विद्युन्माली च वेगेन विद्युन्माली इवाम्बुदः। विद्युन्मालं घनोन्नादो नन्दीश्वरमभिद्रुतः ॥ १८ ॥
स तं तमोऽरिवदनं प्रणदन् वदतां वरः। उवाच युधि शैलादिं दानवोऽम्बुधिनिःस्वनः ॥ १९ ॥
युद्धाकाङ्क्षी तु बलवान् विद्युन्माल्यहमागतः।
यदि त्विदानीं मे जीवन्मुच्यसे नन्दिकेश्वर। न विद्युन्मालिहननं वचोभिर्युधि दानवम् ॥ २० ॥
तमेवंवादिनं दैत्यं नन्दीशस्तपसां वरः। उवाच प्रहरंस्तत्र वाक्यालंकारकोविदः ॥ २१ ॥
दानवाधम कामानां नैषोऽवसर इत्युत। शक्तो हन्तुं किमात्मानं जातिदोषाद् विबृंहसि ॥ २२ ॥
यदि तावन्मया पूर्वं हतोऽसि पशुवद् यथा। इदानीं वा कथं नाम न हिंस्ये क्रतुदूषणम् ॥ २३ ॥
सागरं तरते दोर्भ्यां पातयेद् यो दिवाकरम्। सोऽपि मां शक्नुयान्नैव चक्षुर्भ्यां समवीक्षितुम् ॥ २४ ॥
इत्येवंवादिनं तत्र नन्दिनं तन्निभो बले। बिभेदैकेपुणा दैत्यः करेणार्क इवाम्बुदम् ॥ २५ ॥
वक्षसः स शरस्तस्य पपौ रुधिरमुत्तमम्। सूर्यस्त्वात्मप्रभावेण नद्यर्णवजलं यथा ॥ २६ ॥
स तेन सुप्रहारेण प्रथमं च तिरोहितः। हस्तेन वृक्षमुत्पाट्य चिक्षेप गजराडिव ॥ २७ ॥

वायुनुन्नः स च तरुः शीर्णपुष्पो महारवः। विद्युन्मालिशरैश्छिन्नः पपात पतगेशवत्॥ २८॥

तत्पश्चात् विद्युत्समूहोंसे युक्त मेघकी तरह कान्तिमान् विद्युन्मालीने बिजलीसे युक्त बादलकी तरह गरजते हुए नन्दीश्वरपर वेगपूर्वक धावा किया। उस समय वक्ताओंमें श्रेष्ठ दानव विद्युन्माली बादलकी तरह गरजता हुआ युद्धस्थलमें सूर्यके समान तेजस्वी मुखवालेनन्दीश्वरसे बोला—'नन्दिकेश्वर! मैं बलवान् विद्युन्माली हूँ और युद्ध करनेकी इच्छासे तुम्हारे सम्मुख खड़ा हूँ। अब तुम्हारा मेरे हाथोंसे जीवित बच पाना असम्भव है। युद्धस्थलमें वचनोंद्वारा दानव विद्युन्मालीका हनन नहीं किया जा सकता।' तब वाक्यके अलंकारोंके ज्ञाता एवं श्रेष्ठ तेजस्वी नन्दीश्वरने ऐसा कहनेवाले दैत्य विद्युन्मालीपर प्रहार करते हुए कहा—'दानवाधम! तुमलोग इस समय कामासक्त ही हो, जिसका यह अवसर नहीं है। तुम मुझे मारनेमें समर्थ हो तो उसे कर दिखाओ, किंतु जाति-दोषके कारण तुम अपने प्रति ऐसी डींग क्यों मार रहे हो। यदि इससे भी पहले मैंने तुम्हें पशुकी तरह बहुत मारा है तो इस समय तुझ यज्ञविध्वंसीका हनन कैसे नहीं करूँगा? (तुम समझ लो) जो हाथोंसे सागरको तैरनेकी तथा सूर्यको आकाशसे गिरा देनेकी शक्ति रखता हो, वह भी मेरी ओर आँख उठाकर नहीं देख सकता।' तब नन्दीश्वरके समान ही बलशाली विद्युन्मालीने इस प्रकार कहते हुए नन्दीश्वरको एक बाणसे वैसे ही बींध दिया, जैसे सूर्य अपनी किरणसे बादलका भेदन करते हैं। वह बाण नन्दीश्वरके वक्षःस्थलपर जा लगा और उनका शुद्ध रक्त इस प्रकार पीने लगा जैसे सूर्य अपने प्रभावसे नदी और समुद्रके जलको पीते हैं। उस प्रथम प्रहारसे अत्यन्त क्रुद्ध हुए नन्दीश्वरने अपने हाथसे एक वृक्ष उखाड़कर गजराजकी भाँति विद्युन्मालीके ऊपर फेंका। वायुसे प्रेरित हुआ वह वृक्ष घोर शब्द करता और पुष्पोंको बिखेरता हुआ आगे बढ़ा, किंतु विद्युन्मालीके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर एक बड़े पक्षी-की तरह भूतलपर बिखर गया॥ १८—२८॥

वृक्षमालोक्य तं छिन्नं दानवेन वरेषुभिः। रोषमाहारयत् तीव्रं नन्दीश्वरः सुविग्रहः॥ २९॥
सोद्यम्य करमारावे रविशक्रकरप्रभम्। दुद्राव हन्तुं स क्रूरं महिषं गजराडिव॥ ३०॥
तमापतन्तं वेगेन वेगवान् प्रसभं बलात्। विद्युन्माली शरशतैः पूरयामास नन्दिनम्॥ ३१॥
शरकण्टकिताङ्गो वै शैलादिः सोऽभवत् पुनः। अरेर्गृह्य रथं तस्य महतः प्रययौ जवात्॥ ३२॥
विलम्बिताश्वो विशिरो भ्रमितश्च रणे रथः। पपात मुनिशापेन सादित्योऽर्करथो यथा॥ ३३॥
अन्तरान्निर्गतश्चैव मायया स दितेः सुतः। आजघान तदा शक्त्या शैलादिं समवस्थितम्॥ ३४॥
तामेव तु विनिष्क्रम्य शक्तिं शोणितभूषिताम्। विद्युन्मालिनमुद्दिश्य चिक्षेप प्रमथाग्रणीः॥ ३५॥
तया भिन्नतनुत्राणो विभिन्नहृदयस्त्वपि। विद्युन्माल्यपतद् भूमौ वज्राहत इवाचलः॥ ३६॥

विद्युन्मालीद्वारा श्रेष्ठ बाणोंके प्रहारसे उस वृक्षको छिन्न-भिन्न हुआ देखकर महाबली नन्दीश्वर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। फिर तो वे सूर्य और इन्द्रके हाथके समान प्रभावशाली अपने हाथको उठाकर सिंहनाद करते हुए उस क्रूर राक्षसका वध करनेके लिये इस प्रकार झपटे, जैसे गजराज भैंसेपर टूट पड़ता है। नन्दीश्वरको वेगपूर्वक आक्रमण करते देखकर वेगशाली विद्युन्मालीने बलपूर्वक नन्दीश्वरके शरीरको सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त कर दिया। उस समय नन्दीश्वरका शरीर बाणरूपी काँटोंसे भरा हुआ दिखायी पड़ने लगा; तब उन्होंने अपने शत्रु विद्युन्मालीके रथको पकड़कर बड़े वेगसे दूर फेंक दिया। उस समय उस रथके घोड़े उसमें लटके हुए थे और उसका अग्रभाग टूट गया था तथा वह चक्कर काटता हुआ रणभूमिमें उसी प्रकार गिर पड़ा, जैसे मुनिके शापसे सूर्यसहित सूर्यका रथ गिर पड़ा था। तब दिति-पुत्र विद्युन्माली मायाके बलसे अपनेको सुरक्षित रखकर

रथके भीतरसे निकल पड़ा और उसने सामने खड़े हुए नन्दीश्वरपर शक्तिसे प्रहार किया। प्रमथगणोंके नायक नन्दीश्वरने रक्तसे लथपथ हुई उस शक्तिको हाथमें लेकर विद्युन्मालीको लक्ष्य करके फेंक दिया। फिर तो उस शक्तिने विद्युन्मालीके कवचको फाड़कर उसके हृदयको भी विदीर्ण कर दिया, जिससे वह वज्रसे मारे गये पर्वतकी तरह धराशायी हो गया ॥ २९–३६ ॥

विद्युन्मालिनि निहते सिद्धचारणकिंनराः। साधु साध्विति चोक्त्वा ते पूजयन्त उमापतिम् ॥ ३७ ॥
नन्दिना सादिते दैत्ये विद्युन्मालौ हते मयः। ददाह प्रमथानीकं वनमग्निरिवोद्धतः ॥ ३८ ॥
शूलनिर्दारितोरस्का गदाचूर्णितमस्तकाः। इषुभिर्गाढविद्धाश्च पतन्ति प्रमथार्णवे ॥ ३९ ॥
अथ वज्रधरो यमोऽर्थदः स च नन्दी स च षण्मुखो गुहः।
मयमसुरवीरसम्प्रवृत्तं विविधुः शस्त्रवरैर्हतारयः ॥ ४० ॥
नागं तु नागाधिपतेः शताक्षं मयो विदार्येषु वरेण तूर्णम्।
यमं च वित्ताधिपतिं च विद्ध्वा ररास मत्ताम्बुदवत् तदानीम् ॥ ४१ ॥
ततः शरैः प्रमथगणैश्च दानवा दृढाहताश्चोत्तमवेगविक्रमाः।
भृशानुविद्धास्त्रिपुरं प्रवेशिता यथासुराश्चक्रधरेण संयुगे ॥ ४२ ॥
ततस्तु शङ्खानकभेरिमर्दलाः ससिंहनादा दनुपुत्रभङ्गदाः।
कपर्दिसैन्ये प्रबभुः समंततो निपात्यमाना युधि वज्रसंनिभाः ॥ ४३ ॥
अथ दैत्यपुराभावे पुष्ययोगो बभूव ह। बभूव चापि संयुक्तं तद्योगेन पुरत्रयम् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार विद्युन्मालीके मारे जानेपर सिद्ध, चारण और किन्नरोंके समूह 'ठीक है, ठीक है' ऐसा कहते हुए शंकरजीकी पूजा करने लगे। इधर नन्दीश्वरद्वारा दैत्य विद्युन्मालीके मारे जानेपर मयने प्रमथोंकी सेनाको उसी प्रकार जलाना आरम्भ किया, जैसे उद्दीप्त दावाग्नि वनको जला डालती है। उस समय शूलके आघातसे जिनके वक्षःस्थल फट गये थे एवं गदाके प्रहारसे मस्तक चूर्ण हो गये थे और जो बाणोंकी मारसे अत्यन्त घायल हो गये थे, ऐसे प्रमथगण समुद्रमें गिर रहे थे। तदनन्तर शत्रुओंके विनाशक वज्रधारी इन्द्र, यमराज, कुबेर, नन्दीश्वर तथा छः मुखवाले स्वामिकार्तिक—ये सभी असुर-वीरोंसे घिरे हुए मयको श्रेष्ठ अस्त्रोंद्वारा बींधने लगे। उस समय मयने शीघ्र ही एक श्रेष्ठ बाणसे गजारूढ सौ नेत्रोंवाले इन्द्रको तथा ऐरावत नागको विदीर्ण कर यमराज और कुबेरको भी बींध दिया। फिर वह घुमड़ते हुए बादलकी तरह गर्जना करने लगा। इधर प्रमथगणोंद्वारा छोड़े गये बाणोंसे उत्तम वेग एवं पराक्रमशाली दानव बुरी तरह घायल हो रहे थे। वे अत्यन्त घायल होनेके कारण भागकर त्रिपुरमें उसी प्रकार घुस रहे थे, जैसे युद्धस्थलमें चक्रपाणि विष्णुके प्रहारसे असुर। तत्पश्चात् रणभूमिमें शंकरजीकी सेनामें चारों ओर शङ्ख, ढोल, भेरी और मृदङ्ग बज उठे। वीरोंका सिंहनाद वज्रकी गड़गड़ाहटकी भाँति गूँज उठा, जो दानवोंकी पराजयको सूचित कर रहा था। इसी समय उस दैत्यपुरका विनाशक पुष्ययोग आ गया। उस योगके प्रभावसे तीनो पुर संयुक्त हो गये ॥ ३७–४४ ॥

ततो बाणं त्रिधा देवस्त्रिदैवतमयं हरः। मुमोच त्रिपुरे तूर्णं त्रिनेत्रस्त्रिपथाधिपः ॥ ४५ ॥
तेन मुक्तेन बाणेन बाणपुष्पसमप्रभम्। आकाशं स्वर्णसंकाशं कृतं सूर्येण रञ्जितम् ॥ ४६ ॥
मुक्त्वा त्रिदैवतमयं त्रिपुरे त्रिदशः शरम्। धिग्धिङ्मामेति चक्रन्द कष्टं कष्टमिति ब्रुवन् ॥ ४७ ॥
वैधुर्यं दैवतं दृष्ट्वा शैलादिर्गजवद्गतिः। किमिदं त्विति पप्रच्छ शूलपाणिं महेश्वरम् ॥ ४८ ॥
ततः शशाङ्कतिलकः कपर्दी परमार्तवत्। उवाच नन्दिनं भक्तः स मयोऽद्य विनङ्क्ष्यति ॥ ४९ ॥

अथ नन्दीश्वरस्तूर्णं मनोमारुतवद् बली। शरे त्रिपुरमायाति त्रिपुरं प्रविवेश सः ॥ ५० ॥
स मयं प्रेक्ष्य गणपः प्राह काञ्चनसंनिभः। विनाशस्त्रिपुरस्यास्य प्राप्तो मय सुदारुणः ॥ ५१ ॥
अनेनैव गृहेण त्वमपक्राम ब्रवीम्यहम्।
श्रुत्वा तन्नन्दिवचनं दृढभक्तो महेश्वरे। तेनैव गृहमुख्येन त्रिपुरादपसर्पितः ॥ ५२ ॥
सोऽपीषुः पत्रपुटवद् दग्ध्वा तन्नगरत्रयम्। त्रिधा इव हुताशश्च सोमो नारायणस्तथा ॥ ५३ ॥
शरतेजःपरीतानि पुराणि द्विजपुंगवाः। दुष्पुत्रदोषाद् दह्यन्ते कुलान्यूर्ध्वं यथा तथा ॥ ५४ ॥

तब त्रैलोक्याधिपति त्रिनेत्रधारी भगवान् शंकरने शीघ्र ही अपने त्रिदेवमय बाणको तीन भागोंमें विभक्त कर त्रिपुरपर छोड़ दिया। उस छूटे हुए बाणने (तीनों देवताओंके अंशसे तीन प्रकारकी प्रभासे युक्त होकर) बाण-वृक्षके पुष्पके समान नीले आकाशको स्वर्ण-सदृश प्रभाशाली और सूर्यकी किरणोंसे उद्दीप्त कर दिया। देवेश्वर शम्भु त्रिपुरपर त्रिदेवमय बाण छोड़कर—'मुझे धिक्कार है, धिक्कार है, हाय! बड़े कष्टकी बात हो गयी' यों कहते हुए चिल्ला उठे। इस प्रकार शंकरजीको व्याकुल देखकर गजराजकी चालसे चलनेवाले नन्दीश्वर शूलपाणि महेश्वरके निकट पहुँचे और पूछने लगे—'कहिये, क्या बात है?' तब चन्द्रशेखर जटाजूटधारी भगवान् शंकरने अत्यन्त दुःखी होकर नन्दीश्वरसे कहा—'आज मेरा वह भक्त मय भी नष्ट हो जायगा।' यह सुनकर मन और वायुके समान वेगशाली महाबली नन्दीश्वर तुरंत उस बाणके त्रिपुरमें पहुँचनेके पूर्व ही वहाँ जा पहुँचे। वहाँ स्वर्ण-सरीखे कान्तिमान् गणेश्वर नन्दीने मयके निकट जाकर कहा—'मय! इस त्रिपुरका अत्यन्त भयंकर विनाश आ पहुँचा है, इसलिये मैं तुम्हें बतला रहा हूँ। तुम अपने इस गृहके साथ इससे बाहर निकल जाओ।' तब महेश्वरके प्रति दृढ भक्ति रखनेवाला मय नन्दीश्वरके उस वचनको सुनकर अपने उस मुख्य गृहके साथ त्रिपुरसे निकलकर भाग गया। तदनन्तर वह बाण अग्नि, सोम और नारायणके रूपसे तीन भागोंमें विभक्त होकर उन तीनों नगरोंको पत्तेके दोनेकी तरह जलाकर भस्म कर दिया। द्विजवरो! वे तीनों पुर बाणके तेजसे उसी प्रकार जलकर नष्ट हो रहे थे, जैसे कुपुत्रके दोषसे आगेकी पीढ़ियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥ ४५—५४ ॥

मेरुकैलासकल्पानि मन्दराग्रनिभानि च। सकपाटगवाक्षाणि बलिभिः शोभितानि च ॥ ५५ ॥
सप्रासादानि रम्याणि कूटागारोत्कटानि च। सजलानि समाख्यानि सावलोकनकानि च ॥ ५६ ॥
बद्धध्वजपताकानि स्वर्णरौप्यमयानि च।
गृहाणि तस्मिंस्त्रिपुरे दानवानामुपद्रवे। दह्यन्ते दहनाभानि दहनेन सहस्रशः ॥ ५७ ॥
प्रासादाग्रेषु रम्येषु वनेषूपवनेषु च। वातायनगताश्चान्याश्चाकाशस्य तलेषु च ॥ ५८ ॥
रमणैरुपगूढाश्च रमन्त्यो रमणैः सह। दह्यन्ते दानवेन्द्राणामग्निना ह्यपि ताः स्त्रियः ॥ ५९ ॥
काचित्प्रियं परित्यज्य अशक्ता गन्तुमन्यतः। पुरः प्रियस्य पञ्चत्वं गताग्निवदने क्षयम् ॥ ६० ॥
उवाच शतपत्राक्षी साक्षाक्षीव कृताञ्जलिः।
हव्यवाहन भार्याहं परस्य परतापन। धर्मसाक्षी त्रिलोकस्य न मां स्प्रष्टुमिहार्हसि ॥ ६१ ॥
शायितं च मया देव शिवया च शिवप्रभ। शरेण प्रेहि मुक्त्वेदं गृहं च दयितं हि मे ॥ ६२ ॥
एका पुत्रमुपादाय बालकं दानवाङ्गना। हुताशनसमीपस्था इत्युवाच हुताशनम् ॥ ६३ ॥
बालोऽयं दुःखलब्धश्च मया पावक पुत्रकः। नार्हस्येनमुपादातुं दयितं षण्मुखप्रिय ॥ ६४ ॥
काश्चित् प्रियान् परित्यज्य पीडिता दानवाङ्गनाः। निपतन्त्यर्णवजले शिञ्जमानविभूषणाः ॥ ६५ ॥
तात पुत्रेति मातेति मातुलेति च विह्वलम्। चक्रन्दुस्त्रिपुरे नार्यः पावकज्वालवेपिताः ॥ ६६ ॥

यथा दहति शैलाग्निः साम्बुजं जलजाकरम्। तथा स्त्रीवक्त्रपद्मानि चादहत् पुरेऽनलः ॥ ६७ ॥

उस त्रिपुरमें ऐसे गृह बने थे, जो सुमेरु, कैलास और मन्दराचलके अग्रभागकी तरह दीख रहे थे। जिनमें बड़े-बड़े किंवाड़ और झरोखे लगे हुए थे तथा छज्जाओंकी विचित्र छटा दीख रही थी। जो सुन्दर महलों, उत्कृष्ट कूटागारों (ऊपरी छतके कमरों), जल रखनेकी वेदिकाओं और खिड़कियोंसे सुशोभित थे। जिनके ऊपर सुवर्ण एवं चाँदीके बने हुए डंडोंमें बँधे हुए ध्वज और पताकाएँ फहरा रही थीं। ये सभी हजारोंकी संख्यामें दानवोंके उस उपद्रवके समय अग्नि-द्वारा जलाये जा रहे थे, जो आगकी तरह धधक रहे थे। दानवेन्द्रोंकी स्त्रियाँ, जिनमें कुछ महलोंके रमणीय शिखरोंपर बैठी थीं, कुछ वनों और उपवनोंमें घूम रही थीं, कुछ झरोखोंमें बैठकर दृश्य देख रही थीं, कुछ मैदानमें घूम रही थीं—ये सभी अग्निद्वारा जलायी जा रही थीं। कोई अपने पतिको छोड़कर अन्यत्र जानेमें असमर्थ थी, अतः पतिके सम्मुख ही अग्निकी लपटोंमें आकर दग्ध हो गयी। कोई कमलनयनी नारी आँखोंमें आँसू भरे हुए हाथ जोड़कर कह रही थी—'हव्यवाहन! मैं दूसरेकी पत्नी हूँ। परतापन! आप त्रिलोकीके धर्मके साक्षी हैं, अतः यहाँ मेरा स्पर्श करना आपके लिये उचित नहीं है।' (कोई कह रही थी—) 'शिवके समान कान्तिमान् अग्निदेव! मुझ पतिव्रताने इस घरमें अपने पतिको सुला रखा है, अतः इसे छोड़कर आप दूसरी ओरसे चले जाइये; क्योंकि यह गृह मुझे परम प्रिय है।' एक दानवपत्नी अपने शिशु पुत्रको गोदमें लेकर अग्निके समीप गयी और अग्निसे कहने लगी—'स्वामीकार्तिकके प्रेमी पावक! मुझे यह शिशु पुत्र बड़े दुःखसे प्राप्त हुआ है, अतः इसे ले लेना आपके लिये उचित नहीं है। यह मुझे परम प्रिय है।' कुछ पीड़ित हुई दानव-पत्नियाँ अपने पतियोंको छोड़कर समुद्रके जलमें कूद रही थीं। उस समय उनके आभूषणोंसे शब्द हो रहा था। त्रिपुरमें आगकी लपटोंके भयसे काँपती हुई नारियाँ 'हा तात!, हा पुत्र!, हा माता!, हा मामा!' कहकर विह्वलतापूर्वक करुण-क्रन्दन कर रही थीं। जैसे पर्वताग्नि (दावाग्नि) कमलोंसहित सरोवरको जला देती है, उसी प्रकार अग्निदेव त्रिपुरमें स्त्रियोंके मुखरूपी कमलोंको जला रहे थे ॥ ५५—६७ ॥

तुषारराशिः कमलाकराणां यथा दहत्यम्बुजकानि शीते।
तथैव सोऽग्निस्त्रिपुराङ्गनानां ददाह वक्त्रेक्षणपङ्कजानि ॥ ६८ ॥
शराग्निपातात् समभिद्रुतानां तत्राङ्गनानामतिकोमलानाम्।
बभूव काञ्चीगुणनूपुराणामाक्रन्दितानां च रवोऽति मिश्रः ॥ ६९ ॥
दग्धार्धचन्द्राणि सवेदिकानि विशीर्णहर्म्याणि सतोरणानि।
दग्धानि दग्धानि गृहाणि तत्र पतन्ति रक्षार्थमिवार्णवौघे ॥ ७० ॥
गृहैः पतद्भिर्ज्वलनावलीढैरासीत् समुद्रे सलिलं प्रतप्तम्।
कुपुत्रदोषैः प्रहतानुविद्धं यथा कुलं याति धनान्वितस्य ॥ ७१ ॥
गृहप्रतापैः क्वथितं समन्तात् तदार्णवे तोयमुदीर्णवेगम्।
वित्रासयामास तिमीन् सनक्रांस्तिमिंगिलांस्तत्क्वथितांस्तथान्यान् ॥ ७२ ॥
सगोपुरो मन्दरपादकल्पः प्राकारवर्यस्त्रिपुरे च सोऽथ।
तैरेव सार्धं भवनैः पपात शब्दं महान्तं जनयन् समुद्रे ॥ ७३ ॥
सहस्रशृङ्गैर्भवनैर्यदासीत् सहस्रशृङ्गः स इवाचलेशः।
नामावशेषं त्रिपुरं प्रजज्ञे हुताशनाहारबलिप्रयुक्तम् ॥ ७४ ॥

प्रदह्यमानेन पुरेण तेन जगत्सपातालदिवं प्रतप्तम्।
दुःखं महत्प्राप्य जलावमग्नं हित्वा महान् सौधवरो मयस्य ॥ ७५ ॥
तद् देवेशो वचः श्रुत्वा इन्द्रो वज्रधरस्तदा। शशाप तद्गृहं चापि मयस्यादितिनन्दनः ॥ ७६ ॥
असेव्यमप्रतिष्ठं च भयेन च समावृतम्। भविष्यति मयगृहं नित्यमेव यथानलः ॥ ७७ ॥
यस्य यस्य तु देशस्य भविष्यति पराभवः।
द्रक्ष्यन्ति त्रिपुरं खण्डं तत्रेदं नाशगा जनाः। तदेतदद्यापि गृहं मयस्यामयवर्जितम् ॥ ७८ ॥

जिस प्रकार शीतकालमें तुषारराशि कमलोंसे भरे हुए सरोवरोंके कमलोंको नष्ट कर देती है, उसी तरह अग्निदेव त्रिपुर-निवासिनी नारियोंके मुख और नेत्ररूप कमलोंको जला रहे थे। त्रिपुरमें बाणाग्निके गिरनेसे भयभीत होकर भागती हुई अत्यन्त कोमलाङ्गी सुन्दरियोंकी करधनीकी लड़ियों और पायजेबोंका शब्द आक्रन्दनके शब्दोंसे मिलकर अत्यन्त भयंकर लग रहा था। जिनमें अर्धचन्द्रसे सुशोभित वेदिकाएँ जल गयी थीं तथा तोरणसहित अट्टालिकाएँ जलकर छिन्न-भिन्न हो गयी थीं। ऐसे गृह जलते-जलते समुद्रमें इस प्रकार गिर रहे थे, मानो वे रक्षाके लिये उसमें कूद रहे हों। अग्निकी लपटोंसे झुलसे हुए गृहोंके समुद्रमें गिरनेसे उसका जल ऐसा संतप्त हो उठा था, जैसे सम्पत्तिशाली व्यक्तिका कुल कुपुत्रके दोषसे नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। उस समय समुद्रमें चारों ओर गिरते हुए गृहोंकी उष्णतासे खौलते हुए जलमें तूफान आ गया, जिससे मगरमच्छ, नाक, तिमिंगिल तथा अन्यान्य जलजन्तु संतप्त होकर भयभीत हो उठे। उसी समय त्रिपुरमें लगा हुआ मन्दराचलके समान ऊँचा परकोटा फाटकसहित उन गिरते हुए भवनोंके साथ-ही-साथ महान् शब्द करता हुआ समुद्रमें जा गिरा। जो त्रिपुर थोड़ी देर पहले सहस्रों ऊँचे-ऊँचे भवनोंसे युक्त होनेके कारण सहस्र शिखरवाले पर्वतकी भाँति शोभा पा रहा था, वही अग्निके आहार और बलिके रूपमें प्रयुक्त होकर नाममात्र अवशेष रह गया। जलते हुए उस त्रिपुरके तापसे पाताल और स्वर्गलोकसहित सारा जगत् संतप्त हो उठा। इस प्रकार महान् कष्ट झेलता हुआ वह त्रिपुर समुद्रके जलमें निमग्न हो गया। इसमें एकमात्र मयका महान् भवन ही बच गया था। अदिति-नन्दन वज्रधारी देवराज इन्द्रने जब ऐसी बात सुनी तो मयके उस गृहको शाप देते हुए बोले—'मयका वह गृह किसीके सेवन करने योग्य नहीं होगा। उसकी संसारमें प्रतिष्ठा नहीं होगी। वह अग्निकी तरह सदा भयसे युक्त बना रहेगा। जिस-जिस देशकी पराजय होनेवाली होगी, उस-उस देशके विनाशोन्मुख निवासी इस त्रिपुर-खण्डका दर्शन करेंगे।' मयका वह गृह आज भी आपत्तियोंसे रहित है। ६८—७८।

ऋषय ऊचुः

भगवन् स मयो येन गृहेण प्रपलायितः। तस्य नो गतिमाख्याहि मयस्य चमसोद्भव ॥ ७९ ॥

ऋषियोंने पूछा—चमससे उत्पन्न होनेवाले ऐश्वर्यशाली सूतजी! वह मय जिस गृहको साथ लेकर भाग गया था, उस मयकी आगे चलकर क्या गति हुई? यह हमें बतलाइये ॥ ७९ ॥

सूत उवाच

दृश्यते दृश्यते यत्र ध्रुवस्तत्र मयास्पदम्।
देवद्विट् तु मयश्चातः स तदा खिन्नमानसः। ततश्च युतोऽन्यलोकेऽसित्राणार्थं स चकार सः ॥ ८० ॥
तत्रापि देवताः सन्ति आसोर्यामाः सुरोत्तमाः। तत्राशक्तं ततो गन्तुं तं चैकं पुरमुत्तमम् ॥ ८१ ॥
शिवः सृष्ट्वा गृहं प्रादान्मयायैव गृहार्थिने।
विरराम सहस्राक्षः पूजयामास चेश्वरम्। पूज्यमानं च भूतेशं सर्वे तुष्टुवुरीश्वरम् ॥ ८२ ॥

सम्पूज्यमानं त्रिदशैः समीक्ष्य गणैर्गणेशाधिपतिं तु मुख्यम्।
हर्षोद्धवल्गुर्जहसुश्च देवा जग्मुर्ननर्दुस्तु विपक्कहस्ताः ॥ ८३ ॥
पितामहं वन्द्य ततो महेशं प्रगृह्य चापं प्रविसृज्य भूतान्।
रथाच्च सम्पत्य हरेषुदग्धं क्षिप्तं पुरं तन्मकरालये च ॥ ८४ ॥
य इमं रुद्रविजयं पठते विजयावहम्। विजयं तस्य कृत्येषु ददाति वृषभध्वजः ॥ ८५ ॥
पितॄणां वापि श्राद्धेषु य इमं श्रावयिष्यति। अनन्तं तस्य पुण्यं स्यात् सर्वयज्ञफलप्रदम् ॥ ८६ ॥
इदं स्वस्त्ययनं पुण्यमिदं पुंसवनं महत्। इदं श्रुत्वा पठित्वा च यान्ति रुद्रसलोकताम् ॥ ८७ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे त्रिपुरोपाख्याने त्रिपुरदाहो नाम चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥१४०॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! जहाँ ध्रुव दिखलायी पड़ते हैं, वहीं मयका भी स्थान दीख पड़ता था, किंतु कुछ समयके बाद देवशत्रु मयका मन खिन्न हो गया, तब वह अपनी रक्षाके निमित्त वहाँसे हटकर अन्य लोकमें चला गया। वहाँ भी आप्तोर्याम नामक श्रेष्ठ देवता निवास करते थे, परंतु अब मयमें वहाँसे अन्यत्र जानेकी शक्ति नहीं रह गयी थी। तब भक्तवत्सल शंकरजीने एक उत्तम पुर और गृहका निर्माण कर गृहार्थी मयको प्रदान कर दिया। यह देखकर सहस्र नेत्रधारी इन्द्र शान्त हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने महेश्वरकी पूजा की। उस समय सभी देवताओंने पूजित होते हुए भूतपति शंकरकी स्तुति की। तदनन्तर देवताओं और गणेश्वरोंद्वारा प्रधान गणेशाधिपति महेश्वरकी पूजा होते देखकर देवगण हाथ उठाकर हर्षपूर्वक जयजयकार, अट्टहास और सिंहनाद करने लगे। इसके बाद रथसे निकलकर उन्होंने ब्रह्मा और शंकरजीकी वन्दना की। फिर हाथमें धनुष ग्रहणकर और भूतगणोंसे विदा होकर वे अपने-अपने स्थानके लिये प्रस्थित हुए; क्योंकि शंकरजीके बाणसे भस्म हुआ त्रिपुर महासागरमें निमग्न हो चुका था। जो मनुष्य विजय प्रदान करनेवाले इस रुद्रविजयका पाठ करता है, उसे भगवान् शंकर सभी कार्योंमें विजय प्रदान करते हैं। जो मनुष्य पितरोंके श्राद्धोंके अवसरपर इसे पढ़कर सुनाता है, उसे सम्पूर्ण यज्ञोंका फल प्रदान करनेवाले अनन्त पुण्यकी प्राप्ति होती है। यह रुद्रविजय महान् मङ्गलकारक, पुण्यप्रद और संतानप्रदायक है। इसे पढ और सुनकर लोग रुद्रलोकमें चले जाते हैं ॥ ८०—८७ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके त्रिपुरोपाख्यानमें त्रिपुरदाह नामक एक सौ चालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥१४०॥

एक सौ एकतालीसवाँ अध्याय

पुरूरवाका सूर्य-चन्द्रके साथ समागम और पितृतर्पण, पर्वसंधिका वर्णन तथा श्राद्धभोजी पितरोंका निरूपण

ऋषय ऊचुः

कथं गच्छत्यमावास्यां मासि मासि दिवं नृपः।
ऐलः पुरूरवाः सूत तर्पयेत कथं पितॄन्। एतदिच्छामहे श्रोतुं प्रभावं तस्य धीमतः ॥ १ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतजी! इला-नन्दन महाराज पुरूरवा प्रति मासकी अमावास्याको किस प्रकार स्वर्गलोकमें जाते हैं और वहाँ अपने पितरोंको कैसे तृप्त करते हैं? उन बुद्धिमान् नरेशके इस प्रभावको हमलोग सुनना चाहते हैं ॥ १ ॥

सूत उवाच

एतदेव तु पप्रच्छ मनुः स मधुसूदनम्। सूर्यपुत्राय चोवाच यथा तन्मे निबोधत ॥ २ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! पूर्वकालमें महाराज मनुने भगवान् मधुसूदनसे यही प्रश्न किया था। उस समय भगवान्‌ने उन सूर्य-पुत्र मनुके प्रति जो कुछ कहा था, वही मैं बतला रहा हूँ, आपलोग ध्यान देकर सुनिये ॥

मत्स्य उवाच

तस्य चाहं प्रवक्ष्यामि प्रभावं विस्तरेण तु। ऐलस्य दिवि संयोगं सोमेन सह धीमता ॥ ३ ॥
सोमाच्चैवामृतप्राप्तिः पितृणां तर्पणं तथा। सौम्या बर्हिषदः काव्या अग्निष्वात्तास्तथैव च ॥ ४ ॥
यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च नक्षत्राणां समागतौ। अमावास्यां निवसत एकस्मिन्नथ मण्डले ॥ ५ ॥
तदा स गच्छति द्रष्टुं दिवाकरनिशाकरौ। अमावास्याममावास्यां मातामहपितामहौ ॥ ६ ॥
अभिवाद्य तु तौ तत्र कालापेक्षः स तिष्ठति। प्रचस्कन्द ततः सोममर्चयित्वा परिश्रमात् ॥ ७ ॥
ऐलः पुरूरवा विद्वान् मासि श्राद्धचिकीर्षया। ततः स दिवि सोमं वै ह्युपतस्थे पितृनपि ॥ ८ ॥
द्विलवं कुहुमात्रं च तावुभौ तु निधाय सः। सिनीवालीप्रमाणाल्पकुहूमात्रव्रतोदये ॥ ९ ॥
कुहूमात्रं पितृुद्देशं ज्ञात्वा कुहूमुपासते। तमुपास्य ततः सोमं कलापेक्षी प्रतीक्षते ॥ १० ॥
स्वधामृतं तु सोमाद् वै वसंस्तेषां च तृप्तये।
दशभिः पञ्चभिश्चैव स्वधामृतपरिस्रवैः। कृष्णपक्षभुजां प्रीतिर्दुह्यते परमांशुभिः ॥ ११ ॥
सद्योऽभिक्षरता तेन सौम्येन मधुना च सः। निवापेष्वथ दत्तेषु पित्र्येण विधिना तु वै ॥ १२ ॥
स्वधामृतेन सौम्येन तर्पयामास वै पितॄन्। सौम्या बर्हिषदः काव्या अग्निष्वात्तास्तथैव च ॥ १३ ॥
ऋतुरग्निः स्मृतो विप्रैर्ऋतुं संवत्सरं विदुः। जज्ञिरे ऋतवस्तस्मादृतुभ्यो ह्यार्तवाऽभवन् ॥ १४ ॥
पितरोऽऽर्तवोऽर्धमासा विज्ञेया ऋतुसूनवः।
पितामहास्तु ऋतवो ह्यमावास्याब्दसूनवः। प्रपितामहाः स्मृता देवाः पञ्चाब्दा ब्रह्मणः सुताः ॥ १५ ॥

मत्स्यभगवान्‌ने कहा—राजन् ! मैं इला-पुत्र पुरूरवाका प्रभाव, स्वर्गलोकमें उसका बुद्धिमान् चन्द्रमाके साथ संयोग, उन चन्द्रमासे अमृतकी उपलब्धि तथा पितृतर्पणकी बात विस्तारपूर्वक बतला रहा हूँ। सौम्य, बर्हिषद्, काव्य तथा अग्निष्वात्तसंज्ञक पितरो तथा नक्षत्रोंपर विचरण करते हुए सूर्य और चन्द्रमा जिस समय अमावास्या तिथिको एक मण्डल अर्थात् एक राशिपर स्थित होते हैं, उस समय वह प्रत्येक अमावास्याको सूर्य और चन्द्रमाका दर्शन करनेके लिये स्वर्गमें जाता है और वहाँ मातामह (नाना) और पितामह (बाबा)—दोनोको अभिवादन कर कालकी प्रतीक्षा करता हुआ कुछ दिनतक ठहरा रहता है। चन्द्रमासे अमृतके क्षरण होनेपर उससे परिश्रमपूर्वक पितरोकी पूजा करके लौटता है। किसी महीनेमें श्राद्ध करनेकी इच्छासे इला-नन्दन विद्वान् पुरूरवा स्वर्गलोकमें चन्द्रमा और पितरोके निकट गया और दो लवमात्र कुहू अमावास्यामें उसने दोनोको स्थापित किया; क्योंकि पितृ-व्रतमें जब सिनीवालीका प्रमाण थोड़ा तथा कुहू (अमावास्या) प्रशस्त मानी गयी है। अतः कुहूका समय प्राप्त हुआ जानकर वह पितरोंके उद्देश्यसे कुहूकी उपासना करता है। उसकी उपासना करनेके पश्चात् वह कालकी प्रतीक्षा करता हुआ चन्द्रमाकी भी प्रतीक्षा करता है। वहाँ रहते हुए उसे पितरोकी तृप्तिके लिये चन्द्रमासे स्वधारूप अमृत प्राप्त होता है। चन्द्रमाकी पंद्रह किरणोसे स्वधामृतका क्षरण होता है। कृष्णपक्षमें श्राद्धभोजी पितरोका उन श्रेष्ठ किरणोसे बड़ा प्रेम रहता है तथा अन्य पितर उनसे द्वेष करते हैं। पुरूरवा

तुरंत अभिक्षरित हुए उस उत्तम मधुको पितृ-श्राद्धकी विधिके अनुसार श्राद्धके समय पितरोंको प्रदान करता है। इस प्रकार वह उत्तम स्वधामृतसे सौम्य, बर्हिषद्, काव्य तथा अग्निष्वात्त पितरोंको तृप्त करता रहता है। महर्षियोंने ऋतुको अग्नि बतलाया है और ऋतुको संवत्सर भी कहते हैं। उस संवत्सरसे ऋतुकी उत्पत्ति होती है और ऋतुओंसे उत्पन्न हुए पितर आर्तव कहलाते हैं। आर्तव और अर्धमास पितरोंको ऋतुका पुत्र तथा ऋतुस्वरूप पितामह और अमावास्याको संवत्सरका पुत्र जानना चाहिये। प्रपितामह और पञ्च संवत्सररूप देवगण ब्रह्माके पुत्र माने गये हैं ॥ ३—१५ ॥

सौम्या बर्हिषदः काव्या अग्निष्वात्ता इति त्रिधा।
गृहस्था ये तु यज्वानो हविर्यज्ञार्तवाश्च ये। स्मृता बर्हिषदस्ते वै पुराणे निश्चयं गताः ॥ १६ ॥
गृहमेधिनश्च यज्वानो अग्निष्वात्तार्तवाः स्मृताः। अष्टकापतयः काव्याः पञ्चाब्दांस्तु निबोधत ॥ १७ ॥
तेषु संवत्सरो ह्यग्निः सूर्यस्तु परिवत्सरः। सोमस्त्विड्वत्सरश्चैव वायुश्चैवानुवत्सरः ॥ १८ ॥
रुद्रस्तु वत्सरस्तेषां पञ्चाब्दा ये युगात्मकाः। कालेनाधिष्ठितस्तेषु चन्द्रमाः स्रवते सुधाम् ॥ १९ ॥
एते स्मृता देवकृत्याः सोमपाश्चोष्मपाश्च ये। तांस्तेन तर्पयामास यावदासीत् पुरूरवाः ॥ २० ॥
यस्मात्प्रसूयते सोमो मासि मासि विशेषतः।
ततः स्वधामृतं तद्वै पितॄणां सोमपायिनाम्। एतत् तदमृतं सोममवाप मधु चैव हि ॥ २१ ॥
ततः पीतसुधं सोमं सूर्योऽसावेकरश्मिना। आप्याययते सुषुम्णेन सोमं तु सोमपायिनम् ॥ २२ ॥
निःशेषं वै कलाः पूर्वा युगपद्व्यापयन्पुरा। सुषुम्णाऽऽप्यायमानस्य भागं भागमहःक्रमात् ॥ २३ ॥
कलाः क्षीयन्ति कृष्णास्ताः शुक्ला ह्याप्याययन्ति च। एवं सा सूर्यवीर्येण चन्द्रस्याप्यायिता तनुः ॥ २४ ॥
पौर्णमास्यां स दृश्येत शुक्लः सम्पूर्णमण्डलः।
एवमाप्यायितः सोमः शुक्लपक्षेऽप्यहःक्रमात्। देवैः पीतसुधं सोमं पुरा पश्चात्पिबेद् रविः ॥ २५ ॥
पीतं पञ्चदशाहं तु रश्मिनैकेन भास्करः। आप्याययत्सुषुम्णेन भागं भागमहःक्रमात् ॥ २६ ॥
सुषुम्णाप्यायमानस्य शुक्ला वर्धयन्ति वै कलाः। तस्माद्धसन्ति वै कृष्णाः शुक्ला ह्याप्याययन्ति च ॥ २७ ॥
एवमाप्यायते सोमः क्षीयते च पुनः पुनः। समृद्धिरेवं सोमस्य पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः ॥ २८ ॥
इत्येष पितृमान् सोमः स्मृतस्तद्वत्सुधात्मकः। कान्तः पञ्चदशैः सार्धं सुधामृतपरिस्रवैः ॥ २९ ॥

सौम्य बर्हिषद्, काव्य और अग्निष्वात्त—पितरोंके ये तीन भेद हैं। इनमें जो गृहस्थ, यज्ञकर्ता और हवन करनेवाले हैं, वे आर्तव पितर पुराणमें बर्हिषद् नामसे निश्चित किये गये हैं। गृहस्थाश्रमी और यज्ञकर्ता आर्तव पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। अष्टकापति आर्तव पितरोंको काव्य कहा जाता है। अब पञ्चाब्दोंको सुनिये। इनमें अग्नि संवत्सर, सूर्य परिवत्सर, सोम इड्वत्सर, वायु अनुवत्सर और रुद्र वत्सर हैं। ये पञ्चाब्द युगात्मक होते हैं। समयानुसार इनपर स्थित हुए चन्द्रमा अमृतका क्षरण करते है। ये देवकर्म कहे जाते है। जबतक पुरूरवा वहाँ रहता था, तबतक वह जो सोमप और ऊष्मप पितर हैं, उनको भी उसी अमृतसे तृप्त करता था। चूँकि चन्द्रमा प्रत्येक मासमें विशेषरूपसे अमृतका क्षरण करते हैं और वह सोमपायी पितरोंको स्वधामृतरूपसे प्राप्त होता है, इसीलिये वह अमृतस्वरूप मधु सोमको प्राप्त होता है। इस प्रकार पितरोंद्वारा चन्द्रमाका अमृत पी लिये जानेपर सूर्यदेव अपनी एकमात्र सुषुम्णा नामकी किरणद्वारा उन सोमपायी चन्द्रमाको पुनः परिपूर्ण कर देते हैं। इस प्रकार सूर्य सुषुम्णाद्वारा पूर्ण किये जाते हुए चन्द्रमाकी पहलेकी सम्पूर्ण कलाओंको दिनके क्रमसे थोड़ा-थोड़ा करके पूर्ण करते हैं। चन्द्रमाकी कलाएँ कृष्णपक्षमें क्षीण हो जाती हैं और शुक्लपक्षमें वे पुनः पूर्ण हो जाती हैं। इस प्रकार सूर्यके प्रभावसे चन्द्रमाका

*

शरीर पूर्ण होता रहता है। इसी कारण शुक्लपक्षमें दिनके क्रमसे परिपूर्ण किये गये चन्द्रमाका सम्पूर्ण मण्डल पूर्णिमा तिथिको श्वेत वर्णका दिखायी पड़ता है। पहले देवगण चन्द्रमासे स्रवित हुए अमृतको पीते हैं, उसके बाद सूर्य भी सोमका पान करते हैं। सूर्य अपनी एक किरणसे पंद्रह दिनोंतक सोमको पीते हैं और पुनः दिनके क्रमसे थोड़ा-थोड़ा कर सुषुम्णा किरणद्वारा उसे पूर्ण कर देते हैं। इसी कारण शुक्लपक्षमें चन्द्रमाकी कलाएँ बढ़ती हैं और कृष्णपक्षमें वे क्षीण होती हैं, यही इनका क्रम है। इस प्रकार चन्द्रमा पंद्रह दिनोंतक बढ़ते हैं और पुनः पंद्रह दिनतक क्षीण होते रहते हैं। चन्द्रमाकी इस प्रकारकी समृद्धि और ह्रास शुक्लपक्ष एवं कृष्णपक्षके आश्रयसे होते हैं। इस प्रकार सुधामृतस्रावी पंद्रह किरणोंसे सुशोभित ये चन्द्रमा सुधात्मक एवं पितृमान् कहे जाते हैं ॥ १६—२९ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि पर्वाणां संधयश्च याः। यथा ग्रथ्नन्ति पर्वाणि आवृत्तादिक्षुवेणुवत् ॥ ३० ॥
तथाब्दमासाः पक्षाश्च शुक्लाः कृष्णास्तु वै स्मृताः। पौर्णमास्यास्तु यो भेदो ग्रन्थयः संधयस्तथा ॥ ३१ ॥
अर्धमासस्य पर्वाणि द्वितीयाप्रभृतीनि च। अग्न्याधानक्रिया यस्तान्नीयन्ते पर्वसन्धिषु ॥ ३२ ॥
तस्मात्तु पर्वणो ह्यादौ प्रतिपद्यादिसंधिषु।
सायाह्ने अनुमत्याश्च द्वौ लवौ काल उच्यते। लवौ द्वावेव राकायाः का[ले] ज्ञेयोऽपराह्णिकः ॥ ३३ ॥
प्रकृतिः कृष्णपक्षस्य कालेऽतीतेऽपराह्णिके। सायाह्ने प्रतिपद्येष स कालः पौर्णमासिकः ॥ ३४ ॥
व्यतीपाते स्थिते सूर्ये लेखादूर्ध्वं युगान्तरम्। युगान्तरोदिते चैव चन्द्रे लेखोपरि स्थिते ॥ ३५ ॥
पूर्णमासव्यतीपातौ यदा पश्येत्परस्परम्। तौ तु वै प्रतिपद्यावत्तस्मिन्काले व्यवस्थितौ ॥ ३६ ॥
तत्कालं सूर्यमुद्दिश्य दृष्ट्वा संख्यातुमर्हसि। स चैव सत्क्रियाकालः षष्ठः कालोऽभिधीयते ॥ ३७ ॥
पूर्णेन्दुः पूर्णपक्षे तु रात्रिसंधिषु पूर्णिमा। तस्मादाप्यायते नक्तं पौर्णमास्यां निशाकरः ॥ ३८ ॥
यदान्योन्यवतो पाते पूर्णिमां प्रेक्षते दिवा। चन्द्रादित्योऽपराह्णे तु पूर्णत्वात्पूर्णिमा स्मृता ॥ ३९ ॥
यस्मात्तामनुमन्यन्ते पितरो दैवतैः सह। तस्मादनुमतिर्नाम पूर्णत्वात् पूर्णिमा स्मृता ॥ ४० ॥
अत्यर्थं राजते यस्मात्पौर्णमास्यां निशाकरः। रञ्जनाच्चैव चन्द्रस्य राकेति कवयो विदुः ॥ ४१ ॥
अमा वसेतामृक्षे तु यदा चन्द्रदिवाकरौ। एका पञ्चदशी रात्रिरमावस्या ततः स्मृता ॥ ४२ ॥

इसके बाद अब मैं पर्वोंकी जो संधियाँ हैं, उनका वर्णन कर रहा हूँ। जैसे गन्ने और बाँसमें गोलाकार गाँठें बनी रहती हैं, वैसे ही वर्ष, मास, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, अमावस्या और पूर्णिमाके भेद—ये सभी पर्वकी ग्रन्थियाँ और संधियाँ है। (प्रत्येक पक्षमें) प्रतिपद्-द्वितीया आदि पंद्रह तिथियाँ होती हैं। चूँकि अग्न्याधान आदि क्रियाएँ पर्वसंधियोंमें सम्पन्न की जाती हैं, अतः उन्हें (अमा, पूर्णिमा) पर्वकी तथा प्रतिपदाकी संधियोंमें करना चाहिये। चतुर्दशी और पूर्णिमा आदिके दो लवको पर्वकाल कहा जाता है तथा राकाके दूसरे दिनमें आनेवाले दो लवको पर्वकाल जानना चाहिये। कृष्णपक्षके अपराह्णिक कालके व्यतीत हो जानेपर सायंकालमें प्रतिपदाके योगमें जो काल आता है, उसे पौर्णमासिक कहते हैं। सूर्यके लेखा (विषुव) के ऊपर व्यतीपातमें स्थित होनेपर युगान्तर कहलाता है। उस समय चन्द्रमा लेखाके ऊपर स्थित युगान्तरमें उदित होते हैं। इस प्रकार जब चन्द्रमा और व्यतीपात परस्पर एक-दूसरेको देखे और प्रतिपदा तिथितक उसी अवस्थामें स्थित रहे तो उस समय सूर्यके उद्देश्यसे उस समयको देखकर गणना करनी चाहिये। उसे सत्क्रियाकाल नामक छठा काल कहते हैं। शुक्लपक्षके पूर्ण होनेपर रात्रिकी संधिमें जब पूर्णचन्द्र उदय होते हैं, तब उसे पूर्णिमा कहते है। इसीलिये चन्द्रमा पूर्णिमाकी रातमें अपनी सभी कलाओसे पूर्ण हो जाते हैं। पूर्णिमा

तिथिकी ह्रास-वृद्धि होती रहती है, अतः यदि वृद्धिके समय दूसरे दिन सूर्य और चन्द्र दिनमें पूर्णिमामें दीखते हैं तो वह तिथि पूर्ण होनेके कारण पूर्णिमा कहलाती है। यदि दूसरे दिन प्रतिपदाका योग होनेमें चन्द्रमाकी एक कला हीन हो गयी तो उस पूर्णिमाको अनुमति कहते हैं। यह अनुमति देवताओंसहित पितरोंको परम प्रिय है। चूँकि पूर्णिमाकी रातमें चन्द्रमा अत्यन्त सुशोभित होते हैं, इसलिये चन्द्रमाको प्रिय होनेके कारण उस पूर्णिमाको विद्वानोंने राका नामसे अभिहित किया है। कृष्णपक्षकी पंद्रहवीं रात्रिको जब सूर्य और चन्द्र एक साथ एक नक्षत्रपर स्थित होते हैं, तब उसे अमावास्या कहा जाता है ॥ ३०-४२ ॥

उद्दिश्यताममावास्यां यदा दर्शं समागतौ। अन्योन्यं चन्द्रसूर्यौ तु दर्शनाद् दर्श उच्यते ॥ ४३ ॥
द्वौ द्वौ लवावमावास्यां स कालः पर्वसंधिषु। द्व्यक्षरः कुहुमात्रश्च पर्वकालस्तु स स्मृतः ॥ ४४ ॥
दृष्टचन्द्रा त्वमावास्या मध्याह्नप्रभृतीह वै।
दिवा तदूर्ध्वं रात्र्यां तु सूर्ये प्राप्ते तु चन्द्रमाः। सूर्येण सहसोद्गच्छेत्ततः प्रातस्तनात्तु वै ॥ ४५ ॥
समागम्य लवौ द्वौ तु मध्याह्नान्निपतन् रविः। प्रतिपच्छुक्लपक्षस्य चन्द्रमाः सूर्यमण्डलात् ॥ ४६ ॥
निर्मुच्यमानयोर्मध्ये तयोर्मण्डलयोस्तु वै।
स तदान्वाहुतेः कालो दर्शस्य च वषट्क्रियाः। एतदृतुमुखं ज्ञेयममावास्यां तु पार्वणम् ॥ ४७ ॥
दिवा पर्व त्वमावास्यां क्षीणेन्दौ धवले तु वै। तस्माद् दिवा त्वमावास्यां गृह्यते यो दिवाकरः ॥ ४८ ॥
कुह्वेति कोकिलेनोक्तं यस्मात्कालात् समाप्यते। तत्कालसंज्ञिता ह्येषा अमावास्या कुहूः स्मृता ॥ ४९ ॥
सिनीवालीप्रमाणं तु क्षीणशेषो निशाकरः। अमावास्या विशत्यर्कं सिनीवाली तदा स्मृता ॥ ५० ॥
अनुमतिश्च राका च सिनीवाली कुहूस्तथा। एतासां द्विलवः कालः कुहूमात्रा कुहूः स्मृता ॥ ५१ ॥
इत्येष पर्वसन्धीनां कालो वै द्विलवः स्मृतः। पर्वणां तुल्यकालस्तु तुल्याहुतिवषट्क्रियाः ॥ ५२ ॥
चन्द्रसूर्यव्यतीपाते समे वै पूर्णिमे उभे। प्रतिपत्प्रतिपन्नस्तु पर्वकालो द्विमात्रकः ॥ ५३ ॥
कालः कुहूसिनीवाल्यो समृद्धो द्विलवः स्मृतः। अर्कनिर्मण्डले सोमे पर्वकालः कलाः स्मृताः ॥ ५४ ॥
यस्मादापूर्यते सोमः पञ्चदश्यां तु पूर्णिमा। दशभिः पञ्चभिश्चैव कलाभिर्दिवसक्रमात् ॥ ५५ ॥
तस्मात् पञ्चदशे सोमे कला वै नास्ति षोडशी। तस्मात् सोमस्य विप्रोक्तः पञ्चदश्यां मया क्षयः ॥ ५६ ॥
इत्येते पितरो देवाः सोमपाः सोमवर्धनाः। आर्तवा ऋतवोऽथाब्दा देवास्तान्भावयन्ति हि ॥ ५७ ॥

उस अमावास्याको लक्ष्य कर जब सूर्य और चन्द्रमा दर्शपर आ जाते हैं और परस्पर एक-दूसरेको देखते हैं, तब उसे दर्श कहते हैं। अमावास्यामें पर्वसंधिके अवसरपर दो-दो लव पर्वकाल कहलाते हैं। इनमें प्रतिपदाके योगवाला पर्वकाल कुहू कहलाता है। जिस दिन दोपहरतक अमावास्यामें चन्द्रमाका सम्पर्क बना रहे और उसके बाद रात्रिके प्राप्त होनेपर चन्द्रमा सहसा सूर्यके निकट पहुँच जायँ, पुनः प्रातः-काल सूर्यमण्डलसे पृथक् हो जायँ तो शुक्लपक्षकी प्रतिपदामें प्रातःकाल दो लव पर्वकाल कहलाता है। इस प्रकार सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डलके पृथक् होते समय अमावास्याके उस मध्यवर्ती कालको अन्वाहुति कहते हैं। इसमें पितरोंके निमित्त वषट्क्रियाएँ की जाती हैं। इसे ऋतुमुख और अमावास्याको पार्वण जानना चाहिये। दिनमें जब क्षीण चन्द्रमा सूर्यके साथ मिलते हैं, तब अमावास्याका वह काल पर्वकाल कहलाता है। इसीलिये दिनमें अमावास्याके उस पर्वकालमें सूर्यके पहुँचनेपर सूर्य गृहीत हो जाते हैं अर्थात् सूर्य-ग्रहण लगता है। कोयलद्वारा उच्चरित 'कुहू' शब्द जितने समयमें समाप्त होता है, अमावास्याका उतना मुख्य काल 'कुहू' नामसे कहा जाता है। सिनीवालीका प्रमाण यह है कि जब क्षीण चन्द्रमा सूर्यमें प्रवेश करते हैं, तब वह अमावास्या

सिनीवाली कही जाती है। अनुमति, राका, सिनीवाली और कुहू—इनका दो लवकाल पर्वकाल होता है। कुहू शब्दके उच्चारणपर्यन्त कालको कुहू कहते हैं। इस प्रकार पर्वसंधियोंका यह काल दो लवका बतलाया जाता है और यह पर्वोके समान फलदायक होता है। इसमें हवन और वषट्क्रियाएँ की जाती हैं। चन्द्रमा और सूर्यका व्यतीपातपर स्थित होना तथा दोनों (अमावास्या और पूर्णिमा) पूर्णिमाएँ—ये सभी एक-से पुण्यदायक हैं। प्रतिपदाके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला पर्वकाल दो लवका होता है। इसी प्रकार कुहू और सिनीवालीके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ पर्वकाल भी दो लवका ही माना जाता है। चन्द्रमा जब सूर्यमण्डलसे बाहर होते हैं, तब वह पर्वकाल एक कलाका बतलाया जाता है। चूँकि दिनके क्रमसे पंद्रहवीं तिथिको चन्द्रमा पंद्रह कलाओंद्वारा पूर्ण किये जाते हैं, इसलिये उस तिथिको पूर्णिमा कहते हैं। इस प्रकार चन्द्रमा पंद्रह कलाओंवाले* ही हैं, उनमें सोलहवीं कला नहीं है। इसी कारण मैंने पंद्रहवीं तिथिको चन्द्रमाका क्षय बतलाया है। इस प्रकार ये सोमपायी देव-पितर सोमकी वृद्धि करनेवाले हैं और ऋतु एवं अब्दसे सम्बन्धित आर्तवसंज्ञक देवगण उन्हींके परिपोषक हैं ॥ ४३—५७ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि पितृश्राद्धभुजस्तु ये। तेषां गतिं च सत्तत्त्वं प्राप्तिं श्राद्धस्य चैव हि ॥ ५८ ॥
न मृतानां गतिः शक्या ज्ञातुं वा पुनरागतिः। तपसा हि प्रसिद्धेन किं पुनर्मांसचक्षुषा ॥ ५९ ॥
अत्र देवान्पितॄंश्चैते पितरो लौकिकाः स्मृताः। तेषां ते धर्मसामर्थ्यात्स्मृताः सायुज्यगा द्विजैः ॥ ६० ॥
यदि वाश्रमधर्मेण प्रज्ञानेषु व्यवस्थिताः। अन्ये चात्र प्रसीदन्ति श्रद्धायुक्तेषु कर्मसु ॥ ६१ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा यज्ञेन प्रजया भुवि। श्राद्धेन विद्यया चैव चान्नदानेन सप्तधा ॥ ६२ ॥
कर्मस्वेवेषु ये सक्ता वर्तन्त्या देहपातनात्।
देवैस्ते पितृभिः सार्धमूष्मपैः सोमपैस्तथा। स्वर्गता दिवि मोदन्ते पितृमन्त उपासते ॥ ६३ ॥
प्रजावतां प्रसिद्धैषा उक्ता श्राद्धकृतां च वै। तेषां निवापे दत्तं हि तत्कुलीनैस्तु बान्धवैः ॥ ६४ ॥
मासश्राद्धं हि भुञ्जानास्तेऽप्येते सोमलौकिकाः। एते मनुष्याः पितरो मासश्राद्धभुजस्तु वै ॥ ६५ ॥
तेभ्योऽपरे तु ये त्वन्ये सङ्कीर्णाः कर्मयोनिषु। भ्रष्टाश्चाश्रमधर्मेषु स्वधास्वाहाविवर्जिताः ॥ ६६ ॥
भिन्ने देहे दुरापन्नाः प्रेतभूता यमक्षये। स्वकर्माण्यनुशोचन्तो यातनास्थानमागताः ॥ ६७ ॥
दीर्घाश्चैवातिशुष्काश्च श्मश्रुलाश्च विवाससः। क्षुत्पिपासाभिभूतास्ते विद्रवन्ति त्वितस्ततः ॥ ६८ ॥
सरित्सरस्तडागानि पुष्करिण्यश्च सर्वशः। परान्नान्यभिकाङ्क्षन्तः काल्यमाना इतस्ततः ॥ ६९ ॥
स्थानेषु पात्यमाना ये यातनास्थेषु तेषु वै। शाल्मल्यां वैतरण्यां च कुम्भीपाकेद्धवालुके ॥ ७० ॥
असिपत्रवने चैव पात्यमानाः स्वकर्मभिः। तत्रस्थानां तु तेषां वै दुःखितानामशायिनाम् ॥ ७१ ॥
तेषां लोकान्तरस्थानां बान्धवैर्नामगोत्रतः।
भूमावसव्यं दर्भेषु दत्ताः पिण्डास्त्रयस्तु वै। प्राप्तांस्तु तर्पयन्त्येव प्रेतस्थानेष्वधिष्ठितान् ॥ ७२ ॥

इसके बाद अब मैं जो श्राद्धभोजी पितर हैं, उनकी गति, उनका उत्तम तत्त्व तथा उनके निमित्त दिये गये श्राद्धकी प्राप्तिका वर्णन कर रहा हूँ। मृतकोंके आवागमनका रहस्य तो उत्कृष्ट तपोबलसम्पन्न तपस्वी भी नहीं जान सकते, फिर चर्मचक्षुधारी साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है। इन श्राद्धभोजियोंमें देवता और पितर दोनों हैं। इनमें जो अपने धर्मके बलसे सायुज्य मुक्तिको प्राप्त कर चुके हैं अथवा आश्रमधर्मका पालन

* इसका विस्तृत वर्णन सूर्यसिद्धान्त, बृहत्संहिता आदिमें है। १६ वीं बीजकलासहित १५ ह्रास-वृद्धियुक्त कलाओंका वर्णन शारदातिलक आदिमें इस प्रकार है—'अमृता मानदा नन्दा पूषा तुष्टि रतिर्धृतिः। शशिनी चन्द्रिका कान्तिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरङ्गदा ॥ पूर्णा पूर्णामृता कामदायिन्यः स्वरजाः कलाः। (शारदातिलक २ । १२-१३)

करते हुए ज्ञान-प्राप्तिमें लगे हुए हैं और श्रद्धायुक्त कर्मोके सम्पन्न होनेपर प्रसन्न होते हैं, उन्हे महर्षिगण लौकिक पितर कहते हैं । ब्रह्मचर्य, तप, यज्ञ, संतान, श्राद्ध, विद्या और अन्नदान—ये भूतलपर प्रधान धर्म कहे गये हैं । जो लोग मृत्युपर्यन्त इन सातों धर्मोका पालन करते हुए इनमें आसक्त रहते हैं, वे ऊष्मप तथा सोमप देवताओं और पितरोंके साथ स्वर्गलोकमें जाकर आनन्दका उपभोग करते हुए पितरोंकी उपासना करते हैं । ऐसी प्रसिद्धि उन संतानयुक्त श्राद्धकर्ताओंके लिये कही गयी है, जिनके लिये उनके कुलीन भाई-बन्धुओंने दानके अवसरपर श्राद्ध आदि प्रदान किया है । मासिक श्राद्धमें भोजन करनेवाले पितर चन्द्रलोक-वासी हैं । ये मासश्राद्धभोजी पितर मनुष्योंके पितर हैं । इनके अतिरिक्त जो अन्य लोग कर्मानुसार प्राप्त हुई योनियोंमें कष्ट झेल रहे हैं, आश्रमधर्मसे भ्रष्ट हो गये हैं, जिनके लिये स्वाहा-स्वधाका प्रयोग हुआ ही नहीं है, जो शरीरके नष्ट होनेपर यमलोकमें प्रेत होकर दुर्गति भोग रहे हैं, नरक-स्थानपर पहुँचकर अपने कर्मोपर पश्चात्ताप करते हैं, लम्बे शरीरवाले, अत्यन्त कृशकाय, लम्बी दाढ़ियोंसे युक्त, वस्त्रहीन और भूख एवं प्याससे व्याकुल होकर इधर-उधर दौड़ते हैं, नदी, सरोवर, तडाग और जलाशयोंपर सत्र और दूसरोंके द्वारा दिये गये अन्नकी ताकमें इधर-उधर घूमते रहते हैं, शाल्मली, वैतरणी, कुम्भीपाक, तप्तवालुका और असिपत्रवन नामक भीषण नरकोंमें अपने कर्मानुसार गिराये जाते हैं तथा उन नरकोंमें पड़े हुए जो निद्रारहित हो दुःख भोग रहे हैं, उन लोकान्तरमें स्थित जीवोंके लिये उनके भाई-बन्धुओंद्वारा यहाँ भूतलपर जब उनका नाम-गोत्र उच्चारण कर अपसव्य होकर कुशोंपर तीन पिण्ड प्रदान किये जाते हैं, तब प्रेतस्थानोंमें स्थित होनेपर भी वे पिण्ड उन्हें प्राप्त होकर तृप्त करते हैं ॥ ५८—७२ ॥

अप्राप्ता यातनास्थानं प्रभ्रष्टा ये च पञ्चधा । पश्चाद्ये स्थावरान्ते वै भूतानीके स्वकर्मभिः ॥ ७३ ॥
नानारूपासु जातीनां तिर्यग्योनिषु मूर्तिषु । यदाहारा भवन्त्येते तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥
तस्मिंस्तस्मिंस्तदाहारे श्राद्धे दत्तं तु प्रीणयेत् ।
काले न्यायागतं पात्रे विधिना प्रतिपादितम् । प्राप्नुवन्त्यन्नमादत्तं यत्र यत्रावतिष्ठति ॥ ७५ ॥
यथा गोषु प्रनष्टासु वत्सो विन्दति मातरम् । तथा श्राद्धेषु दृष्टान्तो मन्त्रः प्रापयते तु तम् ॥ ७६ ॥
एवं ह्यविकलं श्राद्धं श्रद्धादत्तं मनुर्ब्रवीत् । सनत्कुमारः प्रोवाच पश्यन् दिव्येन चक्षुषा ॥ ७७ ॥
गतागतज्ञः प्रेतानां प्राप्तिं श्राद्धस्य चैव हि । कृष्णपक्षस्त्वहस्तेषां शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ७८ ॥
इत्येते पितरो देवा देवाश्च पितरश्च वै । अन्योऽन्यपितरो ह्येते देवाश्च पितरो दिवि ॥ ७९ ॥
एते तु पितरो देवा मनुष्याः पितरश्च ये । पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ॥ ८० ॥
इत्येष विषयः प्रोक्तः पितॄणां सोमपायिनाम् । एतत्पितृमहत्त्वं हि पुराणे निश्चयं गतम् ॥ ८१ ॥
इत्येष सोमसूर्याभ्यामैलस्य च समागमः । अवाप्तिः श्रद्धया चैव पितॄणां चैव तर्पणम् ॥ ८२ ॥
पर्वणां चैव यः कालो यातनास्थानमेव च । समासात्कीर्तितस्तुभ्यं सर्ग एष सनातनः ॥ ८३ ॥
वैरूप्यं येन तत्सर्वं कथितं त्वेकदेशिकम् । अशक्यं परिसंख्यातुं श्रद्धेयं भूतिमिच्छता ॥ ८४ ॥
स्वायम्भुवस्य देवस्य एष सर्गो मयेरितः । विस्तरेणानुपूर्वाच्च भूयः किं कथयामि वः ॥ ८५ ॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे मन्वन्तरानुकीर्तने श्राद्धानुकीर्तनं नामैकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

जो नरकोंमें न जाकर पाँच प्रकारसे विभक्त होकर भ्रष्ट हो चुके हैं अर्थात् जो मृत्युके उपरान्त अपने कर्मोके अनुसार स्थावर, भूत-प्रेत, अनेकों प्रकारकी जातियों, तिर्यग्योनियों एवं अन्य जन्तुओंमें जन्म ले चुके हैं, वहाँ उन-उन योनियोंमें वे जैसे आहारवाले होते हैं, उन्हीं-उन्हीं योनियोंमें उसी आहारके रूपमें

परिणत होकर श्राद्धमें दिया गया पिण्ड उन्हें तृप्त करता है। यदि श्राद्धोपयुक्त कालमें न्यायोपार्जित अन्न (मृतकोंके निमित्त) विधिपूर्वक सत्पात्रको दान किया जाता है तो वह अन्न वे मृतक जहाँ-कहीं भी रहते हैं, उन्हें प्राप्त होता है। जैसे बछड़ा गौओंमें विलीन हुई अपनी माँको ढूँढ़ निकालता है, उसी प्रकार श्राद्धोंमें प्रयुक्त हुआ मन्त्र (दानकी वस्तुओंको) उस जीवके पास पहुँचा देता है। इस प्रकार विधानपूर्वक श्रद्धासहित दिया गया श्राद्ध-दान उस जीवको प्राप्त होता है—ऐसा मनुने कहा है। साथ ही महर्षि सनत्कुमारने भी, जो प्रेतोंके गमनागमनके ज्ञाता हैं, दिव्य चक्षुसे देखकर श्राद्धकी प्राप्तिके विषयमें ऐसा ही बतलाया है। कृष्णपक्ष उन पितरोंका दिन है तथा शुक्लपक्ष शयन करनेके लिये उनकी रात्रि है। इस प्रकार ये पितृदेव और देवपितर स्वर्गलोकमें परस्पर एक-दूसरेके देवता और पितर हैं। यह तो स्वर्गीय देवों और पितरोंकी बात हुई। मनुष्योंके पितर पिता, पितामह और प्रपितामह हैं। इस प्रकार मैंने सोमपायी पितरोंके विषयमें वर्णन कर दिया। पितरोंका यह महत्त्व पुराणोंमें निश्चित किया गया है। इस प्रकार मैंने इला-नन्दन पुरूरवाका चन्द्रमा और सूर्यके साथ समागम, पितरोंको श्रद्धापूर्वक दी गयी वस्तुकी प्राप्ति, पितरोंका तर्पण, पर्व-काल और यातनास्थान (नरक) का संक्षिप्त वर्णन आपको सुना दिया, यही सनातन सर्ग है। इसका विस्तार बहुत बड़ा है। मैंने संक्षेपमें ही इसका वर्णन किया है; क्योंकि पूर्णरूपसे वर्णन करना तो असम्भव है। इसलिये कल्याणकामीको इसपर श्रद्धा रखनी चाहिये। मैंने स्वायम्भुव मनुके इस सर्गका विस्तारपूर्वक आनुपूर्वी वर्णन कर दिया। अब पुनः आपलोगोंको क्या बतलाऊँ? ॥ ७३—८५ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके मन्वन्तरानुकीर्तनके प्रसङ्गमें श्राद्धानुकीर्तन नामक एक सौ एकतालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १४१ ॥

एक सौ बयालीसवाँ अध्याय

युगोंकी काल-गणना तथा त्रेतायुगका वर्णन

ऋषय ऊचुः

चतुर्युगाणि यानि स्युः पूर्वे स्वायम्भुवेऽन्तरे। एषां निसर्गं संख्यां च श्रोतुमिच्छामो विस्तरात् ॥ १ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतजी! पूर्वकालमें स्वायम्भुव-मन्वन्तरमें जिन चारों युगोंका प्रवर्तन हुआ है, उनकी सृष्टि और संख्याके विषयमें हमलोग विस्तारपूर्वक सुनना चाहते हैं ॥ १ ॥

सूत उवाच

पृथिवीद्युप्रसङ्गेन मया तु प्रागुदाहृतम्।
एतच्चतुर्युगं त्वेवं तद् वक्ष्यामि निबोधत। तत्प्रमाणं प्रसंख्याय विस्तराच्चैव कृत्स्नशः ॥ २ ॥
लौकिकेन प्रमाणेन निष्पाद्याब्दं तु मानुषम्। तेनापीह प्रसंख्याय वक्ष्यामि तु चतुर्युगम् ॥ ३ ॥
काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव त्रिंशच्च काष्ठां गणयेत् कलां तु।
त्रिंशत्कलाश्चैव भवेन्मुहूर्तस्तैस्त्रिंशता रात्र्यहनी समेते ॥ ४ ॥
अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषलौकिके। रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ५ ॥
पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तयोः पुनः। कृष्णपक्षस्त्वहस्तेषां शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ६ ॥
त्रिंशद् ये मानुषा मासाः पैत्रो मासः स उच्यते।

शतानि त्रीणि मासानां षष्ट्या चाभ्यधिकानि तु। पैत्रः संवत्सरो ह्येष मानुषेण विभाव्यते ॥ ७ ॥
मानुषेणैव मानेन वर्षाणां यच्छतं भवेत्।
पितॄणां तानि वर्षाणि संख्यातानि तु त्रीणि वै। दश च द्व्यधिका मासाः पितृसंख्येह कीर्तिताः॥ ८ ॥
लौकिकेन प्रमाणेन अब्दो यो मानुषः स्मृतः। एतद्दिव्यमहोरात्रमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥ ९ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! पृथ्वी और आकाशके प्रसङ्गसे मैंने पहले ही इन चारों युगोंका वर्णन कर दिया है, फिर भी (यदि आपलोगोंकी उनको सुननेकी अभिलाषा है तो) संख्यापूर्वक उनके प्रमाणको विस्तारके साथ समूचे रूपमें बतला रहा हूँ, सुनिये। लौकिक प्रमाणके द्वारा मानवीय वर्षका आश्रय लेकर उसीके अनुसार गणना करके चारो युगोंका प्रमाण बतला रहा हूँ। पंद्रह निमेष (आँखके खोलने और मूँदनेका समय) की एक काष्ठा और तीस काष्ठाकी एक कला मानी जाती है। तीस कलाका एक मुहूर्त होता है और तीस मुहूर्तके रात-दिन दोनों होते हैं। सूर्य मानवीय लोकमें दिन-रातका विभाजन करते हैं। उनमें रात्रि जीवोंके शयन करनेके लिये और दिन कर्ममें प्रवृत्त होनेके लिये है। पितरोंके रात-दिनका एक लौकिक मास होता है। उनमें रात-दिनका विभाग है। पितरोंके लिये कृष्णपक्ष दिन है और शुक्लपक्ष शयन करनेके लिये रात्रि है। मनुष्योंके तीस मासका पितरोंका एक मास कहा जाता है। इस प्रकार तीन सौ साठ मानव-मासोंका एक पितृ-वर्ष होता है। यह गणना मानवीय गणनाके अनुसार की जाती है। मानवीय गणनाके अनुसार एक सौ वर्ष पितरोंके तीन वर्षके बराबर माने गये हैं। इस प्रकार पितरोंके बारहों महीनोंकी संख्या बतलायी जा चुकी। लौकिक प्रमाणके अनुसार जिसे एक मानव-वर्ष कहते हैं, वही देवताओंका एक दिन-रात होता है—ऐसी वैदिकी श्रुति है ॥ २—९ ॥

दिव्ये रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तु यदुदक्चैव रात्रिर्या दक्षिणायनम्। एते रात्र्यहनी दिव्ये प्रसंख्याते तयोः पुनः ॥ १० ॥
त्रिंशद् यानि तु वर्षाणि दिव्यो मासस्तु स स्मृतः।
मानुषाणां शतं यच्च दिव्या मासास्त्रयस्तु वै। तथैव सह संख्यातो दिव्य एष विधिः स्मृतः ॥ ११ ॥
त्रीणि वर्षशतान्येवं षष्टिर्वर्षास्तथैव च। दिव्यः संवत्सरो ह्येष मानुषेण प्रकीर्तितः ॥ १२ ॥
त्रीणि वर्षसहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः। त्रिंशदन्यानि वर्षाणि स्मृतः सप्तर्षिवत्सरः ॥ १३ ॥
नव यानि सहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि च। वर्षाणि नवतिश्चैव ध्रुवसंवत्सरः स्मृतः ॥ १४ ॥
षट्त्रिंशत् तु सहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि च।
षष्टिश्चैव सहस्राणि संख्यातानि तु संख्यया। दिव्यं वर्षसहस्रं तु प्राहुः संख्याविदो जनाः ॥ १५ ॥
इत्येतद् ऋषिभिर्गीतं दिव्यया संख्यया द्विजाः। दिव्येनैव प्रमाणेन युगसंख्या प्रकल्पिता ॥ १६ ॥
चत्वारि भारते वर्षे युगानि ऋषयोऽब्रुवन्। कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चैवं चतुर्युगम् ॥ १७ ॥
पूर्वं कृतयुगं नाम ततस्त्रेताभिधीयते। द्वापरं च कलिश्चैव युगानि परिकल्पयेत् ॥ १८ ॥
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्। तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः॥ १९ ॥
इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु। एकपादे निवर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ २० ॥

मानवीय वर्षके अनुसार जो देवताओंके रात-दिन होते है, उनमें भी पुनः विभाग हैं। उनमें उत्तरायणको देवताओंका दिन और दक्षिणायनको रात्रि कहा जाता है। इस प्रकार दिव्य रात-दिनकी गणना बतलायी जा चुकी। तीस मानवीय वर्षोंका एक दिव्य मास बतलाया जाता है। इसी प्रकार सौ मानवीय वर्षोंका तीन दिव्य मास माना गया है। यह दिव्य

गणनाकी विधि कही जाती है। मानुष-गणनाके अनुसार तीन सौ साठ वर्षोंका एक दिव्य (देव) वर्ष कहा गया है। मानुष-गणनाके अनुसार तीन हजार तीस वर्षोंका एक सप्तर्षि-वर्ष होता है। नौ हजार नब्बे मानुष-वर्षोंका एक 'ध्रुव-संवत्सर' कहलाता है। छियानवे हजार मानुष-वर्षोंका एक हजार दिव्य वर्ष होता है—ऐसा गणितज्ञ लोग कहते हैं। द्विजवरो! इस प्रकार ऋषियोंद्वारा दिव्य गणनाके अनुसार यह गणना बतलायी गयी है। इसी दिव्य प्रमाणके अनुसार युग-संख्याकी भी कल्पना की गयी है। ऋषियोंने इस भारतवर्षमें चार युग बतलाये हैं। उन चारों युगोंके नाम हैं—कृत, त्रेता, द्वापर और कलि। इनमें सर्वप्रथम कृतयुग, तत्पश्चात् त्रेता, तब द्वापर और 'कलियुग आनेकी परिकल्पनाकी गयी है। उनमें कृतयुग चार हजार (दिव्य) वर्षोंका बतलाया जाता है। इसी प्रकार चार सौ वर्षोंकी उसकी संध्या और चार सौ वर्षोंका संध्यांश होता है। इसके अतिरिक्त संध्या और संध्यांशसहित अन्य तीनों युगोंमें हजारों और सैकड़ोंकी संख्यामें एक चतुर्थांश कम हो जाता है ॥ १०—२० ॥

त्रेता त्रीणि सहस्राणि युगसंख्याविदो विदुः। तस्यापि त्रिशती संध्या संध्यांशः संध्यया समः ॥ २१ ॥
द्वे सहस्रे द्वापरं तु संध्यांशौ तु चतुःशतम्।
सहस्रमेकं वर्षाणां कलिरेव प्रकीर्तितः। द्वे शते च तथान्ये च संध्यासंध्यांशयोः स्मृते ॥ २२ ॥
एषा द्वादशसाहस्री युगसंख्या तु संज्ञिता। कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुष्टयम् ॥ २३ ॥
तत्र संवत्सराः सृष्टा मानुषास्तान् निबोधत।
नियुतानि दश द्वे च पञ्च चैवात्र संख्यया। अष्टाविंशत्सहस्राणि कृतं युगमथोच्यते ॥ २४ ॥
प्रयुतं तु तथा पूर्णं द्वे चान्ये नियुते पुनः।
षण्णवतिसहस्राणि संख्यातानि च संख्यया। त्रेतायुगस्य संख्यैषा मानुषेण तु संज्ञिता ॥ २५ ॥
अष्टौ शतसहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि तु। चतुःषष्टिसहस्राणि वर्षाणां द्वापरं युगम्। ॥ २६ ॥
चत्वारि नियुतानि स्युर्वर्षाणि तु कलिर्युगम्।
द्वात्रिंशच्च तथान्यानि सहस्राणि तु संख्यया। एतत् कलियुगं प्रोक्तं मानुषेण प्रमाणतः ॥ २७ ॥
एषा चतुर्युगावस्था मानुषेण प्रकीर्तिता। चतुर्युगस्य संख्याता संध्या संध्यांशकैः सह ॥ २८ ॥

इस प्रकार युगसंख्या ज्ञाता लोग त्रेताका प्रमाण तीन हजार वर्ष, उसकी संध्याका प्रमाण तीन सौ वर्ष और संध्याके बराबर ही संध्यांशका प्रमाण तीन सौ वर्ष बतलाते हैं। द्वापरका प्रमाण दो हजार वर्ष और उसकी संध्या तथा संध्यांशका प्रमाण दो-दो सौ अर्थात् चार सौ वर्षोंका होता है। कलियुग एक हजार वर्षोंका बतलाया गया है तथा उसकी संध्या और संध्यांश मिलकर दो सौ वर्षोंके होते हैं। इस प्रकार कृतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये चार युग होते हैं और इनकी काल-संख्या बारह हजार दिव्य वर्षोंकी बतायी गयी है। अब मानुष-वर्षके अनुसार इन युगोंमे कितने वर्ष होते हैं, उसे सुनिये। इनमें कृतयुग सत्रह लाख अट्ठाईस हजार वर्षोंका कहा जाता है। इसी मानुष गणनाके अनुसार त्रेतायुगकी वर्ष-संख्या बारह लाख छानबे हजार बतलायी गयी है। द्वापरयुग आठ लाख चौंसठ हजार मानुष वर्षोंका होता है। मानुष गणनाके अनुसार कलियुगका मान चार लाख बत्तीस हजार वर्षोंका कहा गया है। चारों युगोंकी यह अवस्था मानव-गणनाके अनुसार बतलायी गयी है। इस प्रकार संध्या और संध्यांशसहित चारों युगोंकी संख्या बतलायी जा चुकी ॥ २१—२८ ॥

एषा चतुर्युगाख्या तु साधिका त्वेकसप्ततिः। कृतत्रेतादियुक्ता सा मनोरन्तरमुच्यते ॥ २९ ॥
मन्वन्तरस्य संख्या तु मानुषेण निबोधत। एकत्रिंशत् तथा कोट्यः संख्याताः संख्यया द्विजैः ॥ ३० ॥

तथा शतसहस्राणि दश चान्यानि भागशः । सहस्राणि तु द्वात्रिंशच्छतान्यष्टाधिकानि च ॥ ३१ ॥
आशीतिश्चैव वर्षाणि मासाश्चैवाधिकास्तु षट् । मन्वन्तरस्य संख्यैषा मानुषेण प्रकीर्तिता ॥ ३२ ॥
दिव्येन च प्रमाणेन प्रवक्ष्याम्यन्तरं मनोः । सहस्राणां शतान्याहुः स स वै परिसंख्यया ॥ ३३ ॥
चत्वारिंशत् सहस्राणि मनोरन्तरमुच्यते । मन्वन्तरस्य कालस्तु युगैः सह परिकीर्तितः ॥ ३४ ॥
एषा चतुर्युगाख्या तु साधिका ह्येकसप्ततिः । क्रमेण परिवृत्ता सा मनोरन्तरमुच्यते ॥ ३५ ॥
एतच्चतुर्दशगुणं कल्पमाहुस्तु तद्विदः । ततस्तु प्रलयः कृत्स्नः स तु सम्प्रलयो महान् ॥ ३६ ॥
कल्पप्रमाणे द्विगुणो यथा भवति संख्यया । चतुर्युगाख्या व्याख्याता कृतं त्रेतायुगं च वै ॥ ३७ ॥
त्रेतासृष्टिं प्रवक्ष्यामि द्वापरं कलिमेव च । युगपत्समवेतौ द्वौ द्विधा वक्तुं न शक्यते ॥ ३८ ॥
क्रमागतं मयाप्येतत् तुभ्यं नोक्तं युगद्वयम् । ऋषिवंशप्रसङ्गेन व्याकुलत्वात् तथा क्रमात् ॥ ३९ ॥
नोक्तं त्रेतायुगे शेषं तद्वक्ष्यामि निबोधत ।

(अब मन्वन्तरका वर्णन करते हैं ।) इन कृतयुग, त्रेता आदि युगोंकी यह चौकडी जब एकहत्तर बार बीत जाती है, तब उसे एक मन्वन्तर कहते हैं । अब मन्वन्तरकी वर्षसंख्या मानुष गणनाके अनुसार सुनिये । मानव-वर्षके अनुसार एक मन्वन्तरकी वर्ष-संख्या एकतीस करोड़ दस लाख बत्तीस हजार आठ सौ अस्सी वर्ष छः महीनेकी बतलायी जाती है । अब मै दिव्य गणनाके अनुसार मन्वन्तरका वर्णन कर रहा हूँ । एक मनुका कार्य-काल एक लाख चालीस हजार दिव्य वर्षोंका बतलाया जाता है । मन्वन्तरका समय युग-वर्णनके साथ ही कहा जा चुका है । चारो युगोंकी यह चौकड़ी जब क्रमशः एकहत्तर बार बीत जाती है, तब उसे एक मन्वन्तर कहते हैं । कालतत्त्वको जाननेवाले विद्वान् मन्वन्तरके चौदह गुने कालको एक कल्प बतलाते हैं इसके बाद सारी सृष्टिका विनाश हो जाता है, जिसे महाप्रलय कहते हैं । महाप्रलयका समय कल्पके समयसे दुगुना होता है । इस प्रकार कृतयुग, त्रेता आदि चारो युगोंकी वर्ष-संख्या बतलायी जा चुकी । अब मै त्रेता, द्वापर और कलियुगकी सृष्टिका वर्णन कर रहा हूँ । कृतयुग और त्रेता—ये दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं, अतः इनका पृथक् रूपसे वर्णन नहीं किया जा सकता । इसी कारण इन दोनों युगोंके वर्णनका अवसर क्रमशः प्राप्त होनेपर भी मैने आपलोगोंसे नहीं कहा । साथ ही उस समय ऋषि-वंशका प्रसङ्ग छिड़ जानेपर चित्त व्याकुल हो उठा था । उस समय जो नहीं कहा था, वह शेषांश अब त्रेतायुगके वर्णन-प्रसङ्गमें कह रहा हूँ, सुनिये ॥ २९—३९½ ॥

अथ त्रेतायुगस्यादौ मनुः सप्तर्षयश्च ये । श्रौतस्मार्तं ब्रुवन् धर्मं ब्रह्मणा तु प्रचोदिताः ॥ ४० ॥
दाराग्निहोत्रसम्बन्धमृग्यजुःसामसंहिताः । इत्यादिबहुलं श्रौतं धर्मं सप्तर्षयोऽब्रुवन् ॥ ४१ ॥
परम्परागतं धर्मं स्मार्तं त्वाचारलक्षणम् । वर्णाश्रमाचारयुतं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ४२ ॥
सत्येन ब्रह्मचर्येण श्रुतेन तपसा तथा । तेषां सुतप्ततपसामार्षेणानुक्रमेण ह ॥ ४३ ॥
सप्तर्षीणां मनोश्चैव आदौ त्रेतायुगे ततः । अबुद्धिपूर्वकं तेन सकृत्पूर्वकमेव च ॥ ४४ ॥
अभिवृत्तास्तु ते मन्त्रा दर्शनैस्तारकादिभिः । आदिकल्पे तु देवानां प्रादुर्भूतास्तु ते स्वयम् ॥ ४५ ॥
प्रमाणेष्वथ सिद्धानामन्येषां च प्रवर्तते ।
मन्त्रयोगो व्यतीतेषु कल्पेष्वथ सहस्रशः । ते मन्त्रा वै पुनस्तेषां प्रतिमायामुपस्थिताः ॥ ४६ ॥
ऋचो यजूंषि सामानि मन्त्राश्चाथर्वणास्तु ये । सप्तर्षिभिश्च ये प्रोक्ताः स्मार्तं तु मनुरब्रवीत् ॥ ४७ ॥
त्रेतादौ संहता वेदाः केवलं धर्मसेतवः ।
संरोधादायुषश्चैव व्यस्यन्ते द्वापरे च ते । ऋषयस्तपसा वेदानहोरात्रमधीयत ॥ ४८ ॥

अनादिनिधना दिव्याः पूर्वं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा ।
स्वधर्मसंवृताः साङ्गा यथाधर्मं युगे युगे । विक्रियन्ते स्वधर्मं तु वेदवादाद् यथायुगम् ॥ ४९ ॥
आरम्भयज्ञः क्षत्रस्य हविर्यज्ञा विशः स्मृताः । परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञाश्च ब्राह्मणाः ॥ ५० ॥
ततः समुदिता वर्णास्त्रेतायां धर्मशालिनः । क्रियावन्तः प्रजावन्तः समृद्धाः सुखिनश्च वै ॥ ५१ ॥
ब्राह्मणाश्चैव विधीयन्ते क्षत्रियाः क्षत्रियैर्विशः । वैश्याश्छूद्रानुवर्तन्ते परस्परमनुग्रहात् ॥ ५२ ॥
शुभाः प्रकृतयस्तेषां धर्मा वर्णाश्रमाश्रयाः ।

त्रेतायुगके आदिमें जो मनु और सप्तर्षिगण थे, उन लोगोंने ब्रह्माकी प्रेरणासे श्रौत और स्मार्त धर्मोंका वर्णन किया था । उस समय सप्तर्षियोंने दार-सम्बन्ध (विवाह), अग्निहोत्र, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदकी संहिता आदि अनेकविध श्रौत धर्मोंका विवेचन किया था । उसी प्रकार स्वायम्भुव मनुने वर्णों एवं आश्रमोंके धर्मोंसे युक्त परम्परागत आचार-लक्षणरूप स्मार्त-धर्मका वर्णन किया था । त्रेतायुगके आदिमें उत्कृष्ट तपस्यावाले उन सप्तर्षियों तथा मनुके हृदयमें वे मन्त्र सत्य, ब्रह्मचर्य, शास्त्र-ज्ञान, तपस्या तथा ऋषि-परम्पराके अनुक्रमसे बिना सोचे-विचारे ही दर्शनों एवं तारकादिद्वारा एक ही बारमें स्वयं प्रकट हो गये थे । वे ही मन्त्र आदि कल्पमें देवताओंके हृदयोंमें स्वयं उद्भूत हुए थे । वह मन्त्रयोग हजारों गत-कल्पोंमें सिद्धों तथा अन्यान्य लोगोंके लिये भी प्रमाणरूपमें प्रयुक्त होता था । वे मन्त्र पुनः उन देवताओंकी प्रतिमाओंमें भी उपस्थित हुए । इस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद-सम्बन्धी जो मन्त्र हैं, वे सप्तर्षियोंद्वारा कहे गये हैं । स्मार्तधर्मका वर्णन तो मनुने किया है । त्रेतायुगके आदिमें ये सभी वेद धर्मके सेतु-स्वरूप थे, किंतु द्वापरयुगमें आयुके न्यून हो जानेके कारण उनका विभाग कर दिया गया है । ऋषि अपने धर्मसे परिपूर्ण हैं । वे तपमें निरत हो रात-दिन वेदाध्ययन करते थे । ब्रह्माने सर्वप्रथम प्रत्येक युगमें युगधर्मानुसार इनका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है । वे योगानुकूल वेदवादसे स्खलित होकर अपने धर्मसे विकृत हो जाते हैं । त्रेतायुगमें ब्राह्मणोंका धर्म जपयज्ञ, क्षत्रियोंका यज्ञारम्भ, वैश्योंका हविर्यज्ञ और शूद्रोंका सेवायज्ञ कहा जाता था । उस समय सभी वर्णके लोग उन्नत, धर्मात्मा, क्रियानिष्ठ, संतानयुक्त, समृद्ध और सुखी थे । परस्पर प्रेमपूर्वक ब्राह्मण क्षत्रियोंके लिये और क्षत्रिय वैश्योंके लिये सब प्रकारका विधान करते थे तथा शूद्र वैश्योंका अनुवर्तन करते थे । उनके स्वभाव सुन्दर थे तथा उनके धर्म वर्ण एवं आश्रमके अनुकूल होते थे ॥ ३८½-५२½ ॥

संकल्पितेन मनसा वाचा वा हस्तकर्मणा । त्रेतायुगे ह्यविकले कर्मारम्भः प्रसिद्ध्यति ॥ ५३ ॥
आयू रूपं बलं मेधा आरोग्यं धर्मशीलता । सर्वसाधारणं ह्येतदासीत् त्रेतायुगे तु वै ॥ ५४ ॥
वर्णाश्रमव्यवस्थानामेषां ब्रह्मा तथाकरोत् । संहिताश्च तथा मन्त्रा आरोग्यं धर्मशीलता ॥ ५५ ॥
संहिताश्च तथा मन्त्रा ऋषिभिर्ब्रह्मणः सुतैः । यज्ञः प्रवर्तितश्चैव तदा ह्येव तु दैवतैः ॥ ५६ ॥
यामैः शुक्लैर्जयैश्चैव सर्वसाधनसम्भृतैः ।
विश्वसृड्भिस्तथा सार्धं देवेन्द्रेण महौजसा । स्वायम्भुवेऽन्तरे देवैस्ते यज्ञाः प्राक् प्रवर्तिताः॥ ५७ ॥
सत्यं जपस्तपो दानं पूर्वधर्मो य उच्यते । यदा धर्मस्य ह्रसते शाखाधर्मस्य वर्धते ॥ ५८ ॥
जायन्ते च तदा शूरा आयुष्मन्तो महाबलाः । न्यस्तदण्डा महायोगा यज्वानो ब्रह्मवादिनः ॥ ५९ ॥
पद्मपत्रायताक्षाश्च पृथुवक्त्राः सुसंहताः । सिंहोरस्का महासत्त्वा मत्तमातङ्गगामिनः ॥ ६० ॥
महाधनुर्धराश्चैव त्रेतायां चक्रवर्तिनः । सर्वलक्षणपूर्णास्ते न्यग्रोधपरिमण्डलाः ॥ ६१ ॥
न्यग्रोधौ तु स्मृतौ बाहू व्यामो न्यग्रोध उच्यते ।
व्यामेनैवोच्छ्रयो यस्य सम ऊर्ध्वं तु देहिनः । समुच्छ्रयपरिणाहो न्यग्रोधपरिमण्डलः ॥ ६२ ॥

चक्रं रथो मणिर्भार्या निधिरश्वो गजस्तथा। प्रोक्तानि सप्त रत्नानि सर्वेषां चक्रवर्तिनाम् ॥ ६३ ॥
चक्रं रथो मणिः खड्गं धनू रत्नं च पञ्चमम्। केतुर्निधिश्च पञ्चैते प्राणहीनाः प्रकीर्तिताः ॥ ६४ ॥
विष्णोरंशेन जायन्ते पृथिव्यां चक्रवर्तिनः। मन्वन्तरेषु सर्वेषु ह्यतीतानागतेषु वै ॥ ६५ ॥

समूचे त्रेतायुगके कार्यकालमें मानसिक संकल्प, वचन और हाथसे प्रारम्भ किये गये कर्म सिद्ध होते थे। त्रेतायुगमें आयु, रूप, बल, बुद्धि, नीरोगता और धर्म-परायणता—ये सभी गुण सर्वसाधारण लोगोंमें भी विद्यमान थे। ब्रह्माने स्वयं इनके लिये वर्णाश्रमकी व्यवस्था की थी तथा ब्रह्माके मानसिक पुत्र ऋषियोंद्वारा संहिताओं, मन्त्रों, नीरोगता और धर्मपरायणताका विधान किया गया था। उसी समय देवताओंने यज्ञकी भी प्रथा प्रचलित की थी। स्वायम्भुव मन्वन्तरमें सम्पूर्ण यज्ञिय साधनोंसहित याम, शुक्र, जय, विश्वसृज् तथा महान् तेजस्वी देवराज इन्द्रके साथ देवताओंने सर्वप्रथम इन यज्ञोंका प्रचार किया था। उस समय सत्य, जप, तप और दान—ये ही प्रारम्भिक धर्म कहलाते थे। जब इन धर्मोंका ह्रास प्रारम्भ होता था और अधर्मकी शाखाएँ बढ़ने लगती थीं, तब त्रेतायुगमें ऐसे शूरवीर चक्रवर्ती सम्राट् उत्पन्न होते थे, जो दीर्घायुसम्पन्न, महाबली, दण्ड देनेवाले, महान् योगी, यज्ञपरायण और ब्रह्मनिष्ठ थे, जिनके नेत्र कमलदलके समान विशाल और सुन्दर, मुख भरे-पूरे और शरीर सुसंगठित थे, जिनकी छाती सिंहके समान चौड़ी थी, जो महान् पराक्रमी और मतवाले गजराजकी भाँति चलनेवाले और महान् धनुर्धर थे, वे सभी राजलक्षणोंसे परिपूर्ण तथा न्यग्रोध (बरगद-) सदृश मण्डलवाले थे। यहाँ दोनों बाहुओंको ही न्यग्रोध कहा जाता है तथा व्योममें फैलायी हुई बाहुओंका मध्यभाग भी न्यग्रोध कहलाता है। उस व्योमकी ऊँचाई और विस्तारवाला 'न्यग्रोधपरिमण्डल' कहलाता है, अतः जिस प्राणीका शरीर व्योमके बराबर ऊँचा और विस्तृत हो, उसे न्यग्रोधपरिमण्डल* कहा जाता है। पूर्वकालके स्वायम्भुव मन्वन्तरमें चक्र (शासन, आज्ञाद भी), रथ, मणि, भार्या, निधि, अश्व और गज—ये सातों (चल-) रत्न कहे गये हैं। दूसरा चक्र (अचल) रथ, मणि, खड्ग, धनुष, रत्न, झंडा और खजाना—ये स्थिर (अचल) सप्तरत्न हैं। (सब मिलकर ये ही राजाओंके चौदह रत्न हैं।) बीते हुए एवं आनेवाले सभी मन्वन्तरोंमें भूतलपर चक्रवर्ती सम्राट् विष्णुके अंशसे उत्पन्न होते हैं ॥ ५३—६५ ॥

भूतभव्यानि यानीह वर्तमानानि यानि च। त्रेतायुगानि तेष्वत्र जायन्ते चक्रवर्तिनः ॥ ६६ ॥
भद्राणीमानि तेषां च विभाव्यन्ते महीक्षिताम्। अत्यद्भुतानि चत्वारि बलं धर्मं सुखं धनम् ॥ ६७ ॥
अन्योन्यस्याविरोधेन प्राप्यन्ते नृपतेः समम्। अर्थो धर्मश्च कामश्च यशो विजय एव च ॥ ६८ ॥
ऐश्वर्येणाणिमाद्येन प्रभुशक्तिबलान्विताः। श्रुतेन तपसा चैव ऋषींस्तेऽभिभवन्ति हि ॥ ६९ ॥
बलेनाभिभवन्त्येते देवदानवमानवान्। लक्षणैश्चैव जायन्ते शरीरस्थैरमानुषैः ॥ ७० ॥
केशाः स्थिता ललाटोर्णा जिह्वा चास्य प्रमार्जनी। ताम्रप्रभाश्चतुर्दंष्ट्राः सुवंशाश्चोर्ध्वरेतसः ॥ ७१ ॥
आजानुबाहवश्चैव जालहस्ता वृषाङ्किताः। परिणाहप्रमाणाभ्यां सिंहस्कन्धाश्च मेधिनः ॥ ७२ ॥
पादयोश्चक्रमत्स्यौ तु शङ्खपद्मे च हस्तयोः। पञ्चाशीतिसहस्राणि जीवन्ति ह्यजरामयाः ॥ ७३ ॥
असङ्गा गतयस्तेषां चतस्रश्चक्रवर्तिनाम्। अन्तरिक्षे समुद्रेषु पाताले पर्वतेषु च ॥ ७४ ॥
इज्या दानं तपः सत्यं त्रेताधर्मास्तु वै स्मृताः।
तदा प्रवर्तते धर्मो वर्णाश्रमविभागशः। मर्यादास्थापनार्थं च दण्डनीतिः प्रवर्तते ॥ ७५ ॥

* वाल्मीकीय रामायण ३। ३५ तथा भट्टिकाव्य ५ में सीताजीको 'न्यग्रोधपरिमण्डला' कहा गया है।

हृष्टपुष्टा जनाः सर्वे अरोगाः पूर्णमानसाः।
एको वेदश्चतुष्पादस्त्रेतायां तु विधिः स्मृतः। त्रीणि वर्षसहस्राणि जीवन्ते तत्र ताः प्रजाः॥ ७६॥
पुत्रपौत्रसमाकीर्णा म्रियन्ते च क्रमेण ताः। एष त्रेतायुगे भावस्त्रेतासंध्यां निबोधत॥ ७७॥
त्रेतायुगस्वभावेन संध्यापादेन वर्तते। संध्यापादः स्वभावाच्च योंऽशः पादेन तिष्ठति॥ ७८॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे मन्वन्तरानुकल्पो नाम द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४२॥

इस प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमानमें जितने त्रेतायुग हुए होंगे और हैं, उन सभीमें चक्रवर्ती सम्राट् उत्पन्न होते हैं। उन भूपालोंके बल, धर्म, सुख और धन—ये चतुर्भद्र चारों अत्यन्त अद्भुत और माङ्गलिक होते हैं। उन राजाओंको अर्थ, धर्म, काम, यश और विजय—ये सभी समानरूपसे परस्पर अविरोध भावसे प्राप्त होते हैं। प्रभुशक्ति और बलसे सम्पन्न वे नृपतिगण ऐश्वर्य, अणिमा आदि सिद्धि, शास्त्रज्ञान और तपस्यामें ऋषियोंसे भी बढ़-चढ़कर होते हैं। इसलिये वे सम्पूर्ण देव-दानवों और मानवोंको बलपूर्वक पराजित कर देते हैं। उनके शरीरमें स्थित सभी लक्षण दिये होते हैं। उनके सिरके बाल ललाटतक फैले रहते हैं। उनकी जीभ बड़ी स्वच्छ और स्निग्ध होती है। उनकी अङ्गकान्ति लाल होती है। उनके चार दाढ़ें होते हैं। वे उत्तम वंशमें उत्पन्न, ऊर्ध्वरेता, आजानुबाहु, जालहस्त हाथोंमें जालचिह्न तथा बैल आदि ेष्ठ चिह्नयुक्त परिणाहमात्र लम्बे होते हैं। उनके कंधे सिंहके समान मांसल और वे यज्ञपरायण होते हैं। उनके पैरोंमें चक्र और मत्स्यके तथा हाथोंमें शङ्ख और पद्मके चिह्न होते हैं। वे बुढ़ापा और व्याधिसे रहित होकर पचासी हजार वर्षोंतक जीवित रहते हैं। वे चक्रवर्ती सम्राट् अन्तरिक्ष, समुद्र, पाताल और पर्वत—इन चारों स्थानोंमें एकाकी एवं स्वच्छन्दरूपसे विचरण करते हैं। यज्ञ, दान, तप और सत्यभाषण—ये त्रेतायुगके प्रधान धर्म कहे गये हैं। ये धर्म वर्ण एवं आश्रमके विभागपूर्वक प्रवृत्त होते हैं। इनमें मर्यादाकी स्थापनाके निमित्त दण्डनीतिका प्रयोग किया जाता है। त्रेतायुगमें एक वेद चार भागोंमें विभक्त होकर विधान करता है। उस समय सभी लोग हृष्ट-पुष्ट, नीरोग और सफल-मनोरथ होते हैं। वे प्रजाएँ तीन हजार वर्षोंतक जीवित रहती हैं और पुत्र-पौत्रसे युक्त होकर क्रमशः मृत्युको प्राप्त होती हैं। यही त्रेतायुगका स्वभाव है। अब उसकी संध्याके विषयमें सुनिये। इसकी संध्यामें युग-स्वभावका एक चरण रह जाता है। उसी प्रकार संध्यांशमें संध्याका चतुर्थांश शेष रहता है अर्थात् उत्तरोत्तर परिवर्तन होता जाता है॥ ६६—७८॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें मन्वन्तरानुकल्पनामक एक सौ बयालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ॥ १४२॥

एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय

यज्ञकी प्रवृत्ति तथा विधिका वर्णन

ऋषय ऊचुः

कथं त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम्। पूर्वे स्वायम्भुवे सर्गे यथावत् प्रब्रवीहि नः॥ १॥
अन्तर्हितायां संध्यायां सार्धं कृतयुगेन हि। कालाख्यायां प्रवृत्तायां प्राप्ते त्रेतायुगे तदा॥ २॥
ओषधीषु च जातासु प्रवृत्ते वृष्टिसर्जने। प्रतिष्ठितायां वार्तायां ग्रामेषु च पुरेषु च॥ ३॥
वर्णाश्रमप्रतिष्ठानं कृत्वन्तश्च वैः पुनः।
संहितास्तु सुसंहृत्य कथं यज्ञः प्रवर्तितः। एतच्छ्रुत्वाब्रवीत् सूतः श्रूयतां तत्प्रचोदितम्॥ ४॥

ऋषियोंने पूछा—सूतजी ! पूर्वकालमें स्वायम्भुव मनुके कार्यकालमें त्रेतायुगके प्रारम्भमें किस प्रकार यज्ञकी प्रवृत्ति हुई थी ? जब कृतयुगके साथ उसकी संध्या (तथा संध्यांश) दोनों अन्तर्हित हो गये, तब कालक्रमानुसार त्रेतायुगकी संधि प्राप्त हुई । उस समय वृष्टि होनेपर ओषधियाँ उत्पन्न हुईं तथा ग्रामों एवं नगरोंमें वार्ता-वृत्तिकी स्थापना हो गयी । उसके बाद वर्णाश्रमकी स्थापना करके परम्परागत आये हुए मन्त्रोंद्वारा पुनः संहिताओंको एकत्रकर यज्ञकी प्रथा किस प्रकार प्रचलित हुई ? हमलोगोंके प्रति इसका यथार्थरूपसे वर्णन कीजिये । यह सुनकर सूतजीने कहा—'आपलोगोंके प्रश्नानुसार कह रहा हूँ, सुनिये' ॥ १–४ ॥

सूत उवाच

मन्त्रान् वै योजयित्वा तु इहामुत्र च कर्मसु । तथा विश्वभुगिन्द्रस्तु यज्ञं प्रावर्तयत् प्रभुः ॥ ५ ॥
दैवतैः सह संहृत्य सर्वसाधनसंवृतः । तस्याश्वमेधे वितते समाजग्मुर्महर्षयः ॥ ६ ॥
यज्ञकर्मण्यवर्तन्त कर्मण्यग्रे तथर्त्विजः । हूयमाने देवहोत्रे अग्नौ बहुविधं हविः ॥ ७ ॥
सम्प्रतीतेषु देवेषु सामगेषु च सुस्वरम् । परिक्रान्तेषु लघुषु अध्वर्युपुरुषेषु च ॥ ८ ॥
आलब्धेषु च मध्ये तु तथा पशुगणेषु वै । आहूतेषु च देवेषु यज्ञभुक्षु ततस्तदा ॥ ९ ॥
य इन्द्रियात्मका देवा यज्ञभागभुजस्तु ते । तान् यजन्ति तदा देवाः कल्पादिषु भवन्ति ये ॥ १० ॥
अध्वर्यवः प्रैषकाले व्युत्थिता ऋषयस्तथा ।
महर्षयश्च तान् दृष्ट्वा दीनान् पशुगणांस्तदा । विश्वभुजं ते त्वपृच्छन् कथं यज्ञविधिस्तव ॥ ११ ॥
अधर्मो बलवानेष हिंसा धर्मेप्सया तव । नव पशुविधिस्त्विष्टस्तव यज्ञे सुरोत्तम ॥ १२ ॥
अधर्मो धर्मघाताय प्रारब्धः पशुभिस्त्वया ।
नायं धर्मो ह्यधर्मोऽयं न हिंसा धर्म उच्यते । आगमेन भवान् धर्मं प्रकरोतु यदीच्छति ॥ १३ ॥
विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्मेणाव्यसनेन तु । यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिमोषितैः ॥ १४ ॥
एष यज्ञो महानिन्द्र स्वयम्भुविहितः पुरा ।
एवं विश्वभुगिन्द्रस्तु ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । उक्तो न प्रतिजग्राह मानमोहसमन्वितः ॥ १५ ॥
तेषां विवादः सुमहान् जज्ञे इन्द्रमहर्षिणाम् । जङ्गमैः स्थावरैः केन यष्टव्यमिति चोच्यते ॥ १६ ॥
ते तु खिन्ना विवादेन शक्त्या युक्ता महर्षयः । संधाय सममिन्द्रेण पप्रच्छुः खचरं वसुम् ॥ १७ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो ! विश्वभोक्ता सामर्थ्यशाली इन्द्रने ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कर्मोंमें मन्त्रोंको प्रयुक्तकर देवताओंके साथ सम्पूर्ण साधनोंसे सम्पन्न हो यज्ञ प्रारम्भ किया । उनके उस अश्वमेध-यज्ञके आरम्भ होनेपर उसमें महर्षिगण उपस्थित हुए । उस यज्ञकर्ममें ऋत्विग्गण यज्ञक्रियाको आगे बढ़ा रहे थे । उस समय सर्वप्रथम अग्निमें अनेकों प्रकारके हवनीय पदार्थ डाले जा रहे थे, सामगान करनेवाले देवगण विश्वासपूर्वक ऊँचे स्वरसे सामगान कर रहे थे, अध्वर्युगण धीमे स्वरसे मन्त्रोंका उच्चारण कर रहे थे । पशुओंका समूह मण्डपके मध्यभागमें लाया जा रहा था, यज्ञभोक्ता देवोंका आवाहन हो चुका था । जो इन्द्रियात्मक देवता तथा जो यज्ञभागके भोक्ता थे और जो प्रत्येक कल्पके आदिमें उत्पन्न होनेवाले अजानदेव थे, देवगण उनका यजन कर रहे थे । इसी बीच जब यजुर्वेदके अध्येता एवं हवनकर्ता ऋषिगण पशु-बलिका उपक्रम करने लगे, तब यूथ-के-यूथ ऋषि तथा महर्षि उन दीन पशुओंको देखकर उठ खड़े हुए और वे विश्वभुग् नामके विश्वभोक्ता इन्द्रसे पूछने लगे—'देवराज ! आपके यज्ञकी यह कैसी विधि है ? आप धर्म-प्राप्तिकी अभिलाषासे जो जीव-हिंसा करनेके लिये उद्यत हैं, यह महान् अधर्म है । सुरश्रेष्ठ ! आपके यज्ञमें पशु-हिंसाकी यह नवीन विधि दीख रही है । ऐसा प्रतीत होता है कि

आप पशु-हिंसाके व्याजसे धर्मका विनाश करनेके लिये अधर्म करनेपर तुले हुए हैं। यह धर्म नहीं है। यह सरासर अधर्म है। जीव-हिंसा धर्म नहीं कही जाती। इसलिये यदि आप धर्म करना चाहते हैं तो वेदविहित धर्मका अनुष्ठान कीजिये। सुरश्रेष्ठ! वेदविहित विधिके अनुसार किये हुए यज्ञ और दुर्व्यसनरहित धर्मके पालनसे यज्ञके बीजभूत त्रिवर्ग (नित्य धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति होती है। इन्द्र! पूर्वकालमें ब्रह्माने इसीको महान् यज्ञ बतलाया है।' तत्त्वदर्शी ऋषियोंद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर भी विश्वभोक्ता इन्द्रने उनकी बातोंको अङ्गीकार नहीं किया; क्योंकि उस समय वे मान और मोहसे भरे हुए थे। फिर तो इन्द्र और उन महर्षियोंके बीच 'स्थावरों या जङ्गमोंमेंसे किससे यज्ञानुष्ठान करना चाहिये'—इस बातको लेकर वह अत्यन्त महान् विवाद उठ खड़ा हुआ। यद्यपि वे महर्षि शक्तिसम्पन्न थे, तथापि उन्होंने उस विवादसे खिन्न होकर इन्द्रके साथ संधि करके (उसके निर्णयार्थ) उपरिचर (आकाशचारी राजर्षि) वसुसे प्रश्न किया ॥ ५–१७ ॥

ऋषय ऊचुः

महाप्राज्ञ त्वया दृष्टः कथं यज्ञविधिर्नृप। औत्तानपादे प्रब्रूहि संशयं छिन्धि नः प्रभो ॥ १८ ॥

ऋषियोंने पूछा—उत्तानपाद-नन्दन नरेश! आप तो सामर्थ्यशाली एवं महान् बुद्धिमान् हैं। आपने किस प्रकारकी यज्ञ-विधि देखी है, उसे बतलाइये और हम लोगोंका संशय दूर कीजिये ॥ १८ ॥

सूत उवाच

श्रुत्वा वाक्यं वसुस्तेषामविचार्य बलाबलम्। वेदशास्त्रमनुस्मृत्य यज्ञतत्त्वमुवाच ह ॥ १९ ॥
यथोपनीतैर्यष्टव्यमिति होवाच पार्थिवः। यष्टव्यं पशुभिर्मेध्यैरथ मूलफलैरपि ॥ २० ॥
हिंसा स्वभावो यज्ञस्य इति मे दर्शनागमः। तथैते भाविता मन्त्रा हिंसालिङ्गा महर्षिभिः ॥ २१ ॥
दीर्घेण तपसा युक्तैस्तारकादिनिदर्शनैः। तत्प्रमाणं मया चोक्तं तस्माच्छमितुमर्हथ ॥ २२ ॥
यदि प्रमाणं स्वान्येव मन्त्रवाक्यानि वो द्विजाः। तदा प्रवर्ततां यज्ञो ह्यन्यथा मानृतं वचः ॥ २३ ॥
एवं कृतोत्तरास्ते तु युज्यात्मानं ततो धिया। अवश्यम्भाविनं दृष्ट्वा तमधो ह्यशपंस्तदा ॥ २४ ॥
इत्युक्तमात्रो नृपतिः प्रविवेश रसातलम्। ऊर्ध्वचारी नृपो भूत्वा रसातलचरोऽभवत् ॥ २५ ॥
वसुधातलचारी तु तेन वाक्येन सोऽभवत्। धर्माणां संशयच्छेत्ता राजा वसुरधोगतः ॥ २६ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! उन ऋषियोंका प्रश्न सुनकर महाराज वसु उचित-अनुचितका कुछ भी विचार न कर वेद-शास्त्रोंका अनुस्मरण कर यज्ञतत्त्वका वर्णन करने लगे। उन्होंने कहा—'शक्ति एवं समयानुसार प्राप्त हुए पदार्थोंसे यज्ञ करना चाहिये। पवित्र पशुओं और मूल-फलोंसे भी यज्ञ किया जा सकता है। मेरे देखनेमें तो ऐसा लगता है कि हिंसा यज्ञका स्वभाव ही है। इसी प्रकार तारक आदि मन्त्रोंके ज्ञाता उग्रतपस्वी महर्षियोंने हिंसासूचक मन्त्रोंको उत्पन्न किया है। उसीको प्रमाण मानकर मैंने ऐसी बात कही है, अतः आपलोग मुझे क्षमा कीजियेगा। द्विजवरो! यदि आपलोगोंको वेदोंके मन्त्रवाक्य प्रमाणभूत प्रतीत होते हों तो यही कीजिये, अन्यथा यदि आप वेद-वचनको झूठा मानते हों तो मत कीजिये।' वसुद्वारा ऐसा उत्तर पाकर महर्षियोंने अपनी बुद्धिसे विचार किया और अवश्यम्भावी विषयको जानकर राजा वसुको विमानसे नीचे गिर जानेका तथा पातालमें प्रविष्ट होनेका शाप दे दिया। ऋषियोंके ऐसा कहते ही राजा वसु रसातलमें चले गये। इस प्रकार जो राजा वसु एक दिन आकाशचारी थे, वे रसातलगामी हो गये। ऋषियोंके शापसे उन्हें पातालचारी होना पड़ा। धर्मविषयक संशयोंका निवारण करनेवाले राजा वसु इस प्रकार अधोगतिको प्राप्त हुए ॥ १९–२६ ॥

तस्मान्न वाच्यो ह्येकेन बहुज्ञेनापि संशयः। बहुद्वारस्य धर्मस्य सूक्ष्मा दुरनुगा गतिः॥ २७॥
तस्मान्न निश्चयाद्वक्तुं धर्मः शक्यो हि केनचित्। देवानृषीनुपादाय स्वायम्भुवमृते मनुम्॥ २८॥
तस्मान्न हिंसा यज्ञे स्याद् यदुक्तमृषिभिः पुरा। ऋषिकोटिसहस्राणि स्वैस्तपोभिर्दिवं गताः॥ २९॥
तस्मान्न हिंसायज्ञं च प्रशंसन्ति महर्षयः। उञ्छो मूलं फलं शाकमुदपात्रं तपोधनाः॥ ३०॥
एतद् दत्त्वा विभवतः स्वर्गलोके प्रतिष्ठिताः। अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया शमः॥ ३१॥
ब्रह्मचर्यं तपः शौचमनुक्रोशं क्षमा धृतिः। सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद् दुरासदम्॥ ३२॥
द्रव्यमन्त्रात्मको यज्ञस्तपश्च समतात्मकम्। यज्ञैश्च देवानाप्नोति वैराजं तपसा पुनः॥ ३३॥
ब्रह्मणः कर्मसंन्यासाद्वैराग्यात् प्रकृतेर्लयम्। ज्ञानात्प्राप्नोति कैवल्यं पञ्चैता गतयः स्मृताः॥ ३४॥

इसलिये बहुज्ञ (अत्यन्त विद्वान्) होते हुए भी अकेले किसी धार्मिक संशयका निर्णय नहीं करना चाहिये; क्योंकि अनेक द्वार (मार्ग-)वाले धर्मकी गति अत्यन्त सूक्ष्म और दुर्गम है। अतः देवताओं और ऋषियोंके साथ-साथ स्वायम्भुव मनुके अतिरिक्त अन्य कोई भी अकेला व्यक्ति धर्मके विषयमें निश्चयपूर्वक निर्णय नहीं दे सकता। इसलिये पूर्वकालमें जैसा ऋषियोंने कहा है, उसके अनुसार यज्ञमें जीव-हिंसा नहीं होनी चाहिये। हजारों करोड़ ऋषि अपने तपोबलसे स्वर्गलोकको गये हैं। इसी कारण महर्षिगण हिंसात्मक यज्ञकी प्रशंसा नहीं करते। वे तपस्वी अपनी सम्पत्तिके अनुसार उञ्छवृत्तिसे प्राप्त हुए अन्न, मूल, फल, शाक और कमण्डलु आदिका दान कर स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित हुए हैं। ईर्ष्याहीनता, निर्लोभता, इन्द्रियनिग्रह, जीवोंपर दयाभाव, मानसिक स्थिरता, ब्रह्मचर्य, तप, पवित्रता, करुणा, क्षमा और धैर्य—ये सनातन धर्मके मूल ही हैं, जो बड़ी कठिनतासे प्राप्त किये जा सकते हैं। यज्ञ द्रव्य और मन्त्रद्वारा सम्पन्न किये जा सकते हैं और तपस्याकी सहायिका समता है। यज्ञोंसे देवताओंकी तथा तपस्यासे विराट् ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। कर्म (फल)का त्याग कर देनेसे ब्रह्म-पदकी-प्राप्ति होती है, वैराग्यसे प्रकृतिमें लय होता है और ज्ञानसे कैवल्य (मोक्ष) सुलभ हो जाता है। इस प्रकार ये पाँच गतियाँ बतलायी गयी हैं॥ २७—३४॥

एवं विवादः सुमहान् यज्ञस्यासीत् प्रवर्तने। ऋषीणां देवतानां च पूर्वं स्वायम्भुवेऽन्तरे॥ ३५॥
ततस्ते ऋषयो दृष्ट्वा हतं धर्मं बलेन तु। वसोर्वाक्यमनादृत्य जग्मुस्ते वै यथागतम्॥ ३६॥
गतेषु ऋषिसङ्घेषु देवा यज्ञमवाप्नुयुः। श्रूयन्ते हि तपःसिद्धा ब्रह्मक्षत्रादयो नृपाः॥ ३७॥
प्रियव्रतोत्तानपादौ ध्रुवो मेधातिथिर्वसुः। सुधामा विरजाश्चैव शंखपाद्राजसस्तथा॥ ३८॥
प्राचीनबर्हिः पर्जन्यो हविर्धानादयो नृपाः। एते चान्ये च बहवस्ते तपोभिर्दिवं गताः॥ ३९॥
राजर्षयो महात्मानो येषां कीर्तिः प्रतिष्ठिता। तस्माद्विशिष्यते यज्ञात्तपः सर्वैस्तु कारणैः॥ ४०॥
ब्रह्मणा तपसा सृष्टं जगद्विश्वमिदं पुरा। तस्मान्नाप्नोति तद् यज्ञात्तपोमूलमिदं स्मृतम्॥ ४१॥
यज्ञप्रवर्तनं ह्येवमासीत् स्वायम्भुवेऽन्तरे। तदाप्रभृति यज्ञोऽयं युगैः सह व्यवर्तत॥ ४२॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे मन्वन्तरानुकल्पे देवर्षिसंवादो नाम त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४३॥

पूर्वकालमें स्वायम्भुव-मन्वन्तरमें यज्ञकी प्रथा प्रचलित होनेके अवसरपर देवताओं और ऋषियोंके बीच इस प्रकारका महान् विवाद हुआ था। तदनन्तर जब ऋषियोंने यह देखा कि यहाँ तो बलपूर्वक धर्मका विनाश किया जा रहा है, तब वसुके कथनकी उपेक्षा कर वे जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। उन ऋषियोंके चले जानेपर देवताओंने यज्ञकी सारी क्रियाएँ सम्पन्न कीं। इसके अतिरिक्त इस विषयमें ऐसा भी सुना जाता है कि बहुतेरे ब्राह्मण तथा क्षत्रियनरेश तपस्याके प्रभावसे ही सिद्धि प्राप्त की थी। प्रियव्रत, उत्तानपाद, ध्रुव, मेधातिथि,

वसु, सुधामा, विरजा, शङ्खपाद्, राजस, प्राचीनबर्हि, पर्जन्य और हविर्धान आदि नृपतिगण तथा इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से नरेश तपोबलसे स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं, जिन महात्मा राजर्षियोंकी कीर्ति अबतक विद्यमान है। अतः तपस्या सभी कारणोंसे सभी प्रकार यज्ञसे बढ़कर है। पूर्वकालमें ब्रह्माने तपस्याके प्रभावसे ही इस सारे जगत्की सृष्टि की थी, अतः यज्ञद्वारा वह बल नहीं प्राप्त हो सकता। उसकी प्राप्तिका मूल कारण तप ही कहा गया है। इस प्रकार स्वायम्भुव-मन्वन्तरमें यज्ञकी प्रथा प्रारम्भ हुई थी। तबसे यह यज्ञ सभी युगोंके साथ प्रवर्तित हुआ ॥ ३५—४२ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणके मन्वन्तरानुकल्पमें देवर्षिसंवाद नामक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १४३ ॥

एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय

द्वापर और कलियुगकी प्रवृत्ति तथा उनके स्वभावका वर्णन, राजा प्रमतिका वृत्तान्त तथा पुनः कृतयुगके प्रारम्भका वर्णन

सूत उवाच

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि द्वापरस्य विधिं पुनः। तत्र त्रेतायुगे क्षीणे द्वापरं प्रतिपद्यते ॥ १ ॥
द्वापरादौ प्रजानां तु सिद्धिस्त्रेतायुगे तु या। परिवृत्ते युगे तस्मिंस्ततः सा सम्प्रणश्यति ॥ २ ॥
ततः प्रवर्तिते तासां प्रजानां द्वापरे पुनः। लोभोऽधृतिर्वणिग्युद्धं तत्त्वानामविनिश्चयः ॥ ३ ॥
प्रध्वंसश्चैव वर्णानां कर्मणां तु विपर्ययः। याच्ञा वधः पणो दण्डो मानो दम्भोऽक्षमा बलम् ॥ ४ ॥
तथा रजस्तमो भूयः प्रवृत्तिर्द्वापरे स्मृता। आद्ये कृते तु धर्मोऽस्ति स त्रेतायां प्रपद्यते ॥ ५ ॥
द्वापरे व्याकुलो भूत्वा प्रणश्यति कलौ पुनः। वर्णानां द्वापरे धर्माः संकीर्यन्ते तथाऽऽश्रमाः ॥ ६ ॥
द्वैधमुत्पद्यते चैव युगे तस्मिञ् श्रुतौ स्मृतौ। द्वैधाच्छ्रुतेः स्मृतेश्चैव निश्चयो नाधिगम्यते ॥ ७ ॥
अनिश्चयावगमनाद् धर्मतत्त्वं न विद्यते। धर्मतत्त्वे ह्यविज्ञाते मतिभेदस्तु जायते ॥ ८ ॥
परस्परं विभिन्नैस्तैर्दृष्टीनां विभ्रमेण तु। अयं धर्मो ह्ययं नेति निश्चयो नाधिगम्यते ॥ ९ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! इसके बाद अब मैं द्वापरयुगकी विधिका वर्णन कर रहा हूँ। त्रेतायुगके क्षीण हो जानेपर द्वापरयुगकी प्रवृत्ति होती है। द्वापरयुगके प्रारम्भ-कालमें प्रजाओंको त्रेतायुगकी भाँति ही सिद्धि प्राप्त होती है, किंतु जब द्वापरयुगका प्रभाव पूर्णरूपसे व्याप्त हो जाता है, तब वह सिद्धि नष्ट हो जाती है। उस समय प्रजाओंमें लोभ, धैर्यहीनता, वाणिज्य, युद्ध, सिद्धान्तोंकी अनिश्चितता, वर्णोंका विनाश, कर्मोंका उलट-फेर, याच्ञा (भिक्षावृत्ति), संहार, परायापन, दण्ड, अभिमान, दम्भ, असहिष्णुता, बल तथा रजोगुण एवं तमोगुण बढ़ जाते हैं। सर्वप्रथम कृतयुगमें तो अधर्मका लेशमात्र भी नहीं रहता, किंतु त्रेतायुगमें उसकी कुछ-कुछ प्रवृत्ति होती है। पुनः द्वापरयुगमें वह विशेषरूपसे व्याप्त होकर कलियुगमें युग-समाप्तिके समय विनष्ट हो जाता है। द्वापरयुगमें चारों वर्णों तथा आश्रमोंके धर्म परस्पर घुल-मिल जाते हैं। इस युगमें श्रुतियों और स्मृतियोंमें भेद उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार श्रुति और स्मृतिकी मान्यतामें भेद पड़नेके कारण किसी विषयका ठीक निश्चय नहीं हो पाता। अनिश्चितताके कारण धर्मका तत्त्व लुप्त हो जाता है। धर्मतत्त्वका ज्ञान न होनेपर बुद्धिमें भेद उत्पन्न हो जाता है। बुद्धिमें भेद पड़नेके कारण उनके विचार भी भ्रान्त हो जाते हैं और फिर धर्म क्या है और अधर्म क्या है, यह निश्चय नहीं हो पाता ॥ १—९ ॥

एको वेदश्चतुष्पादः त्रेतास्विह विधीयते। संक्षेपादायुषश्चैव व्यस्यते द्वापरेष्विह ॥ १० ॥
वेदश्चैकश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु। ऋषिपुत्रैः पुनर्वेदा भिद्यन्ते दृष्टिविभ्रमैः ॥ ११ ॥
मन्त्रब्राह्मणविन्यासैः स्वरक्रमविपर्ययैः। संहिता ऋग्यजुःसाम्नां संहन्यन्ते श्रुतर्षिभिः ॥ १२ ॥
सामान्याद् वैकृतान्चैव दृष्टिभिन्नैः क्वचित् क्वचित्। ब्राह्मणं कल्पसूत्राणि भाष्यविद्यास्तथैव च ॥ १३ ॥
अन्ये तु प्रस्थितास्तान् वै केचित् तान् प्रत्यवस्थिताः। द्वापरेषु प्रवर्तन्ते भिन्नार्थैस्तैः स्वदर्शनैः ॥ १४ ॥
एकमाध्वर्यवं पूर्वमासीद् द्वैधं तु तत्पुनः। सामान्यविपरीतार्थैः कृतं शास्त्राकुलंत्विदम् ॥ १५ ॥
आध्वर्यवं च प्रस्थानैर्बहुधा व्याकुलीकृतम्। तथैवाथर्वणां साम्नां विकल्पैः स्वस्य संक्षयैः ॥ १६ ॥
व्याकुलो द्वापरेष्वर्थः क्रियते भिन्नदर्शनैः। द्वापरे संनिवृत्ते तु वेदा नश्यन्ति वै कलौ ॥ १७ ॥
तेषां विपर्ययोत्पन्ना भवन्ति द्वापरे पुनः। अदृष्टिर्मरणं चैव तथैव व्याध्युपद्रवाः ॥ १८ ॥
वाङ्मनःकर्मभिर्दुःखैर्निर्वेदो जायते ततः। निर्वेदाज्जायते तेषां दुःखमोक्षविचारणा ॥ १९ ॥
विचारणायां वैराग्यं वैराग्याद् दोषदर्शनम्। दोषाणां दर्शनाच्चैव ज्ञानोत्पत्तिस्तु जायते ॥ २० ॥

पहले त्रेताके प्रारम्भमें आयुके संक्षिप्त हो जानेके कारण एक ही वेद ऋक्, यजुः, अथर्वण, साम नामोंसे चार विभक्त कर दिया जाता है। फिर द्वापरमें विभिन्न विचारवाले ऋषिपुत्रोंद्वारा उन वेदोंका पुनः (शाखा-प्रशाखा-आदिमें) विभाजन कर दिया जाता है। वे महर्षिगण मन्त्र-ब्राह्मणों, स्वर और क्रमके विपर्ययसे ऋक्, यजुः और साम वेदकी संहिताओंका अलग-अलग संघटन करते हैं। भिन्न विचारवाले श्रुतर्षियोंने ब्राह्मणभाग, कल्पसूत्र तथा भाष्यविद्या आदिको भी कहीं-कहीं सामान्य रूपसे और कहीं-कहीं विपरीतक्रमसे परिवर्तित कर दिया है। कुछ लोगोंने तो उनका समर्थन और कुछ लोगोंने अवरोध किया है। इसके बाद प्रत्येक द्वापरयुगमें भिन्नार्थदर्शी ऋषिवृन्द अपने-अपने विचारानुसार वैदिक प्रथामें अर्थभेद उत्पन्न कर देते हैं। पूर्वकालमें यजुर्वेद एक ही था, परंतु ऋषियोंने उसे बादमें सामान्य और विशेष अर्थसे कृष्ण और यजुः-रूपमें दो भागोंमें विभक्त कर दिया, जिससे शास्त्रमें भेद हो गया। इस प्रकार इन लोगोंने यजुर्वेदको अनेकों उपाख्यानों तथा प्रस्थानों, खिलांशों-द्वारा विस्तृत कर दिया है। इसी प्रकार अथर्ववेद और सामवेदके मन्त्रोंका भी ह्रास एवं विकल्पोंद्वारा अर्थ-परिवर्तन कर दिया है। इस तरह प्रत्येक द्वापरयुगमें (पूर्वपरम्परासे चले आते हुए) वेदार्थको भिन्नदर्शी ऋषिवृन्द परिवर्तित करते हैं। फिर द्वापरके बीत जानेपर कलियुगमें वे वेदार्थ शनैः-शनैः नष्ट हो जाते हैं। वेदार्थका विपर्यय हो जानेके कारण द्वापरके अन्तमें ही यथार्थ दृष्टिका लोप, असामयिक मृत्यु और व्याधियोंके उपद्रव प्रकट हो जाते हैं। तब मन-वचन-कर्मसे उत्पन्न हुए दुःखोंके कारण लोगोंके मनमें खेद उत्पन्न होता है। खेदाधिक्यके कारण दुःखसे मुक्ति पानेके लिये उनके मनमें विचार जाग्रत् होता है। फिर विचार उत्पन्न होनेपर वैराग्य, वैराग्यसे दोष-दर्शन और दोषोंके प्रत्यक्ष होनेपर ज्ञानकी उत्पत्ति होती है ॥ १०—२० ॥

तेषां मेधाविनां पूर्वं मर्त्ये स्वायम्भुवेऽन्तरे। उत्पत्स्यन्तीह शास्त्राणां द्वापरे परिपन्थिनः ॥ २१ ॥
आयुर्वेदविकल्पाश्च अङ्गानां ज्यौतिषस्य च। अर्थशास्त्रविकल्पाश्च हेतुशास्त्रविकल्पनम् ॥ २२ ॥
प्रक्रियाकल्पसूत्राणां भाष्यविद्याविकल्पनम्। स्मृतिशास्त्रप्रभेदाश्च प्रस्थानानि पृथक् पृथक् ॥ २३ ॥
द्वापरेष्वभिवर्तन्ते मतिभेदास्तथा नृणाम्। मनसा कर्मणा वाचा कृच्छ्राद् वार्ता प्रसिद्ध्यति ॥ २४ ॥
द्वापरे सर्वभूतानां कायक्लेशः परः स्मृतः। लोभोऽधृतिर्वणिग्युद्धं तत्त्वानामविनिश्चयः ॥ २५ ॥
वेदशास्त्रप्रणयनं धर्माणां संकरस्तथा। वर्णाश्रमपरिध्वंसः कामद्वेषौ तथैव च ॥ २६ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे द्वे परमायुस्तदा नृणाम्। निःशेषे द्वापरे तस्मिंस्तस्य संध्या तु पादतः ॥ २७ ॥
प्रतिष्ठिते गुणैर्हीना धर्मोऽसौ द्वापरस्य तु। तथैव संध्यापादेन अंशस्तस्यां प्रतिष्ठितः ॥ २८ ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें स्वायम्भुव मन्वन्तरके द्वापरयुगमें उन मेधावी ऋषियोंके वंशमे इस भूतलपर शास्त्रोंके विरोधी लोग उत्पन्न होते हैं और उस युगमें आयुर्वेदमें विकल्प, ज्योतिषशास्त्रके अङ्गोंमें विकल्प, अर्थशास्त्रमे विकल्प, हेतुशास्त्रमे विकल्प, कल्पसूत्रोंकी प्रक्रियामें विकल्प, भाष्यविद्यामें विकल्प, स्मृतिशास्त्रोंमे नाना प्रकारके भेद, पृथक्-पृथक् मार्ग तथा मनुष्योकी बुद्धियोंमें भेद प्रचलित हो जाते हैं। तब मन-वचन-कर्मसे लगे रहनेपर भी बड़ी कठिनाईसे लोगोंकी जीविका सिद्ध हो पाती है। इस प्रकार द्वापरयुगमें सभी प्राणियोंका जीवन भी कष्टसे ही चल पाता है। उस समय जनतामें लोभ, धैर्यहीनता, वाणिज्य-व्यवसाय, युद्ध, तत्त्वोंकी अनिश्चितता, वेदों एवं शास्त्रोंकी मनःकल्पित रचना, धर्मसंकरता, वर्णाश्रम-धर्मका विनाश तथा काम और द्वेषकी भावना आदि दुर्गुणोका प्राबल्य हो जाता है। उस समय लोगोंकी दो हजार वर्षोंकी पूर्णायु होती है। द्वापरकी समाप्तिके समय उसके चतुर्थांशमें उसकी संध्याका काल आता है। उस समय लोग धर्मके गुणोसे हीन हो जाते हैं। उसी प्रकार संध्याके चतुर्थ चरणमें संध्यांशका समय उपस्थित होता है ॥ २१-२८ ॥

द्वापरस्य तु पर्याये पुष्यस्य च निबोधत। द्वापरस्यांशशेषे तु प्रतिपत्तिः कलेरथ ॥ २९ ॥
हिंसा स्तेयानृतं माया वधश्चैव तपस्विनाम्। एते स्वभावाः पुष्यस्य साधयन्ति च ताः प्रजाः ॥ ३० ॥
एष धर्मः स्मृतः कृत्स्नो धर्मश्च परिहीयते। मनसा कर्मणा वाचा वार्ता सिद्ध्यति वा न वा ॥ ३१ ॥
कलौ प्रमारको रोगः सततं चापि क्षुद्भयम्। अनावृष्टिभयं घोरं देशानां च विपर्ययः ॥ ३२ ॥
न प्रमाणं स्मृतश्चास्ति पुष्ये घोरे युगे कलौ। गर्भस्थो म्रियते कश्चिद्यौवनस्थस्तथापरः ॥ ३३ ॥
स्थविरे मध्यकौमारे म्रियन्ते च कलौ प्रजाः। अल्पतेजोबलाः पापा महाकोपा ह्यधार्मिकाः ॥ ३४ ॥
अनृतव्रतलुब्धाश्च पुष्ये चैव प्रजाः स्थिताः। दुरिष्टैर्दुरधीतैश्च दुराचारैर्दुरागमैः ॥ ३५ ॥
विप्राणां कर्मदोषैश्च प्रजानां जायते भयम्। हिंसमानस्तथेर्ष्या च क्रोधोऽसूयाक्षमः कृतम् ॥ ३६ ॥
पुष्ये भवन्ति जन्तूनां लोभो मोहश्च सर्वशः। संक्षोभो जायतेऽत्यर्थं कलिमासाद्य वै युगम् ॥ ३७ ॥
नाधीयन्ते तथा वेदा न यजन्ते द्विजातयः। उत्सीदन्ति तथा चैव वैश्यैः सार्धं तु क्षत्रियाः ॥ ३८ ॥
शूद्राणां मन्त्रयोनिस्तु सम्बन्धो ब्राह्मणैः सह। भवतीह कलौ तस्मिञ् शयनासनभोजनैः ॥ ३९ ॥
राजानः शूद्रभूयिष्ठाः पाखण्डानां प्रवर्तकाः। काषायिणश्च निष्कच्छास्तथा कापालिनश्च ह ॥ ४० ॥

अब द्वापरयुगके बाद आनेवाले कलियुगका वृत्तान्त सुनिये। द्वापरकी समाप्तिके समय जब अंशमात्र शेष रह जाता है, तब कलियुगकी प्रवृत्ति होती है। जीव-हिंसा, चोरी, असत्यभाषण, माया (छल-कपट-दम्भ) और तपस्वियोकी हत्या—ये कलियुगके स्वभाव (स्वाभाविक गुण) हैं। वह प्रजाओंको भलीभाँति चरितार्थ कर देता है। यही उसका अविकल धर्म है। यथार्थ धर्मका तो विनाश हो जाता है। उस समय मन-वचन-कर्मसे प्रयत्न करनेपर भी यह संदेह बना रहता है कि जीविकाकी सिद्धि होगी या नहीं। कलियुगमें विसूचिका, प्लेग आदि महामारक रोग होते हैं। इस घोर कलियुगमें भुखमरी और अकालका सदा भय बना रहता है। देशोंका उलट-फेर तो होता ही रहता है। किसी प्रमाणमें स्थिरता नहीं रहती। कोई गर्भमें ही मर जाता है तो कोई नौजवान होकर, कोई मध्य जवानीमें तो कोई बुढ़ापामें। इस प्रकार लोग कलियुगमें अकालमें ही कालके शिकार बन जाते हैं। उस समय लोगोंका तेज और बल घट जाता है। उनमें पाप, क्रोध और धर्महीनता बढ़ जाती है। वे असत्यभाषी और लोभी हो जाते हैं। ब्राह्मणोके अनिष्ट-चिन्तन, अल्पाध्ययन, दुराचार और शास्त्र-ज्ञान-हीनता-रूप कर्मदोषोसे प्रजाओंको सदा भय बना रहता है। कलियुगमें जीवोंमें हिंसा, अभिमान, ईर्ष्या, क्रोध, असूया,

असहिष्णुता, अधीरता, लोभ, मोह और संक्षोभ आदि दुर्गुण सर्वथा अधिक मात्रामें बढ़ जाते हैं। कलियुगके आनेपर ब्राह्मण न तो वेदोंका अध्ययन करते हैं और न यज्ञानुष्ठान ही करते हैं। क्षत्रिय भी वैश्योंके साथ (कर्मभ्रष्ट होकर) विनष्ट हो जाते हैं। कलियुगमें शूद्र मन्त्रोके ज्ञाता हो जाते हैं और उनका शयन, आसन एवं भोजनके समय ब्राह्मणोंके साथ सम्पर्क होता है। शूद्र ही अधिकतर राजा होते हैं। पाखण्डका प्रचार बढ़ जाता है। शूद्रलोग गेरुआ वस्त्र धारण कर हाथमें नारियलका कपाल लेकर काछ खोले हुए (संन्यासीके वेषमे) घूमते रहते हैं ॥ २९—४० ॥

ये चान्ये देवव्रतिनस्तथा ये धर्मदूषकाः। दिव्यवृत्ताश्च ये केचिद् वृत्त्यर्थं श्रुतिलिङ्गिनः ॥ ४१ ॥
एवंविधाश्च ये केचिद्भवन्तीह कलौ युगे। अधीयन्ते तदा वेदाञ्शूद्रान् धर्मार्थकोविदाः ॥ ४२ ॥
यजन्ति ह्यश्वमेधैस्तु राजानः शूद्रयोनयः। स्त्रीबालगोवधं कृत्वा हत्वा चैव परस्परम् ॥ ४३ ॥
उपहृत्य तथान्योन्यं साधयन्ति तथा प्रजाः। दुःखप्रचुरताल्पायुर्देशोत्सादः सरोगता ॥ ४४ ॥
अधर्माभिनिवेशित्वं तमोवृत्तं कलौ स्मृतम्। भ्रूणहत्या प्रजानां च तदा ह्येवं प्रवर्तते ॥ ४५ ॥
तस्मादायुर्बलं रूपं प्रहीयन्ते कलौ युगे। दुःखेनाभिप्लुतानां परमायुः शतं नृणाम् ॥ ४६ ॥
भूत्वा च न भवन्तीह वेदाः कलियुगेऽखिलाः। उत्सीदन्ते तथा यज्ञाः केवलं धर्महेतवः ॥ ४७ ॥
एषा कलियुगावस्था संध्यांशौ तु निबोधत। युगे युगे तु हीयन्ते त्रींस्त्रीन्पादांश्च सिद्धयः ॥ ४८ ॥
युगस्वभावाः संध्यासु अवतिष्ठन्ति पादतः। संध्यास्वभावाः स्वांशेषु पादेनैवावतस्थिरे ॥ ४९ ॥

कुछ लोग देवताओंकी पूजा करते हैं तो कुछ लोग धर्मको दूषित करते हैं। कुछ लोगोंके आचार-विचार दिव्य होते हैं तो कुछ लोग जीविकोपार्जनके लिये साधुका वेष बनाये रहते हैं। कलियुगमें अधिकतर इसी प्रकारके लोग होते हैं। उस समय शूद्रलोग धर्म और अर्थके ज्ञाता बनकर वेदोंका अध्ययन करते हैं। शूद्रयोनिमें उत्पन्न नृपतिगण अश्वमेध-यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं। उस समय लोग स्त्री, बालक और गौओंकी हत्या कर, परस्पर एक-दूसरेको मारकर तथा अपहरण कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। कलियुगमें कष्टका बाहुल्य हो जाता है। प्राणियोंकी आयु थोड़ी हो जाती है। देशोंमें उथल-पुथल होता रहता है। व्याधिका प्रकोप बढ़ जाता है। अधर्मकी ओर लोगोंकी विशेष रुचि हो जाती है। सभीके आचार-विचार तामसिक हो जाते हैं। प्रजाओंमें भ्रूणहत्याकी प्रवृत्ति हो जाती है। इसी कारण कलियुगमें आयु, बल और रूपकी क्षीणता हो जाती है। दुःखोंसे संतप्त हुए लोगोंकी परमायु सौ वर्षकी होती है। कलियुगमें सम्पूर्ण वेद विद्यमान रहते हुए भी नहींके बराबर हो जाते हैं तथा धर्मके एकमात्र कारण यज्ञोंका विनाश हो जाता है। यह तो कलियुगकी दशा बतलायी गयी, अब उसकी संध्या और संध्यांशका वर्णन सुनिये। प्रत्येक युगमें तीन-तीन चरण व्यतीत हो जानेके बाद सिद्धियाँ घट जाती हैं, अर्थात् धर्मका ह्रास हो जाता है। उनकी संध्याओंमें युगका स्वभाव चतुर्थांश मात्र रह जाता है। उसी प्रकार संध्यांशोंमें संध्याका स्वभाव भी चतुर्थांश ही शेष रहता है ॥ ४१—४९ ॥

एवं संध्यांशके काले सम्प्राप्ते तु युगान्तिके। तेषामधर्मिणां शास्ता भृगूणां च कुले स्थितः ॥ ५० ॥
गोत्रेण वै चन्द्रमसो नाम्ना प्रमतिरुच्यते। कलिसंध्यांशभागेषु मनोः स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥ ५१ ॥
समास्त्रिंशत्तु सम्पूर्णाः पर्यटन् वै वसुंधराम्। अनुकर्षन् स वै सेनां हस्त्यश्वरथसंकुलाम् ॥ ५२ ॥
प्रगृहीतायुधैर्विप्रैः शतशोऽथ सहस्रशः। स तदा तैः परिवृतो म्लेच्छान् सर्वान्निजघ्निवान् ॥ ५३ ॥
स हत्वा सर्वशश्चैव राजानः शूद्रयोनयः। पाखण्डान् स तदा सर्वान्निःशेषानकरोत् प्रभुः ॥ ५४ ॥

अधार्मिकाश्च ये केचित्तान् सर्वान् हन्ति सर्वशः। औदीच्यान्मध्यदेशांश्च पार्वतीयांस्तथैव च ॥ ५५ ॥
प्राच्यान्प्रतीच्यांश्च तथा विन्ध्यपृष्ठापरान्तिकान्। तथैव दाक्षिणात्यांश्च द्रविडान्सिंहलैः सह ॥ ५६ ॥
गान्धारान्पारदांश्चैव पह्लवान् यवनाञ्छकान्। तुषारान्बर्बराञ् छ्वेतान्हलिकान्दरदान्खसान् ॥ ५७ ॥
लम्पकानान्ध्रकांश्चापि चोरजातींस्तथैव च। प्रवृत्तचक्रो बलवाञ्शूद्राणामन्तकृद् बभौ ॥ ५८ ॥
विद्राव्य सर्वभूतानि चचार वसुधामिमाम्।

इस प्रकार स्वायम्भुव-मन्वन्तरमें कलियुगके अन्तिम समयमें प्राप्त हुए संध्यांश-कालमें उन अधर्मियोंका शासन करनेके लिये भृगुवंशमें चन्द्रगोत्रीय प्रमति* नामका राजा उत्पन्न होता है। वह अस्त्रधारी नरेश हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई सेनाको साथ लेकर तीस वर्षोंतक पृथ्वीपर भ्रमण करता है। उस समय उसके साथ आयुध-धारी सैकड़ों-हजारों ब्राह्मण भी रहते हैं। वह सामर्थ्य-शाली वीर सभी म्लेच्छोंका विनाश कर देता है तथा शूद्र-योनिमें उत्पन्न हुए राजाओंका सर्वथा संहार करके सम्पूर्ण पाखण्डोंको भी निर्मूल कर देता है। वह सर्वत्र घूम-घूमकर सभी धर्महीनोंका वध कर देता है। शूद्रोंका विनाश करनेवाला यह महाबली राजा उत्तर दिशाके निवासी, मध्यदेशीय, पर्वतीय, पौरस्त्य, पाश्चात्य, विन्ध्याचलके ऊपर तथा तलहटियोंमें स्थित, दाक्षिणात्य, सिंहलोंसहित द्रविड, गान्धार, पारद, पह्लव, यवन, शक, तुषार, बर्बर, श्वेत, हलीक, दरद, खस, लम्पक, आन्ध्रक तथा चोर जातियोंका संहार कर अपना शासन-चक्र प्रवृत्त करता है। वह समस्त अधार्मिक प्राणियोंको खदेड़कर इस पृथ्वीपर विचरण करता हुआ सुशोभित होता है ॥ ५०—५८½ ॥

मानवस्य तु वंशे तु नृदेवस्येह जज्ञिवान् ॥ ५९ ॥
पूर्वजन्मनि विष्णुश्च प्रमतिर्नाम वीर्यवान्। स्वतः स वै चन्द्रमसः पूर्वं कलियुगे प्रभुः ॥ ६० ॥
द्वात्रिंशेऽभ्युदिते वर्षे प्रक्रान्ते विंशतिं समाः। निजघ्ने सर्वभूतानि मानुषाण्येव सर्वशः ॥ ६१ ॥
कृत्वा बीजावशिष्टां तां पृथ्वीं क्रूरेण कर्मणा। परस्परनिमित्तेन कालेनाकस्मिकेन च ॥ ६२ ॥
संस्थिता सहसा या तु सेना प्रमतिना सह। गङ्गायमुनयोर्मध्ये सिद्धिं प्राप्ता समाधिना ॥ ६३ ॥
ततस्तेषु प्रनष्टेषु संध्यांशे क्रूरकर्मसु। उत्साद्य पार्थिवान् सर्वांस्तेष्वतीतेषु वै तदा ॥ ६४ ॥
ततः संध्यांशके काले सम्प्राप्ते च युगान्तके। स्थितास्वल्पावशिष्टासु प्रजास्विह क्वचित्क्वचित् ॥ ६५ ॥
स्वाप्रदानास्तदा ते वै लोभाविष्टास्तु वृन्दशः। उपहिंसन्ति चान्योन्यं प्रलुम्पन्ति परस्परम् ॥ ६६ ॥
अराजके युगांशे तु संक्षये समुपस्थिते। प्रजास्ता वै तदा सर्वाः परस्परभयार्दिताः ॥ ६७ ॥
व्याकुलास्ताः परावृत्तास्त्यक्त्वा देवगृहाणि तु। स्वान् स्वान् प्राणानवेक्षन्तो निष्कारुण्यात्सुदुःखिताः ॥ ६८ ॥
नष्टे श्रौतस्मृते धर्मे कामक्रोधवशानुगाः। निर्मर्यादा निरानन्दा निःस्नेहा निरपत्रपाः ॥ ६९ ॥
नष्टे धर्मे प्रतिहता ह्रस्वकाः पञ्चविंशकाः। हित्वा दारांश्च पुत्रांश्च विषादव्याकुलप्रजाः ॥ ७० ॥
अनावृष्टिहतास्ते वै वार्तामुत्सृज्य दुःखिताः। आश्रयन्ति स्म प्रत्यन्तान् हित्वा जनपदान् स्वकान् ॥ ७१ ॥

पराक्रमी प्रमति पूर्व जन्ममें विष्णु था और इस जन्ममें महाराज मनुके वंशमें भूतलपर उत्पन्न हुआ था। पहले कलियुगमें वह वीर चन्द्रमाका पुत्र था। बत्तीस वर्षकी अवस्था होनेपर उसने बीस वर्षोंतक भूतलपर सर्वत्र घूम-घूमकर सभी धर्महीन मानवों एवं अन्य प्राणियोंका संहार कर डाला। उसने आकस्मिक कालके वशीभूत हो बिना किसी निमित्तके क्रूर कर्मद्वारा उस पृथ्वीको बीजमात्र अवशेष कर दिया। तत्पश्चात् प्रमतिके साथ जो विशाल सेना थी, वह सहसा गङ्गा और यमुनाके मध्यभागमें स्थित हो गयी और समाधिद्वारा

* श्रीविष्णुधर्मोत्तर महापुराणमें भी इस राजाकी विस्तृत महिमा निरूपित है। वासुदेवशरण अग्रवाल आदि इतिहासके अनेक विद्वान् इसे राजा विक्रमादित्यका अपर नाम मानते हैं।

सिद्धिको प्राप्त हो गयी । इस प्रकार युगके अन्तमें संध्यांश-कालके प्राप्त होनेपर सभी अधार्मिक राजाओंका विनाश होता है। उन क्रूरकर्मियोंके नष्ट हो जानेपर भूतलपर कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत प्रजाएँ अवशिष्ट रह जाती हैं। वे लोग अपनी वस्तु दूसरेको देना नहीं चाहते। उनमें लोभकी मात्रा अधिक होती है। वे लोग यूथ-के-यूथ एकत्र होकर परस्पर एक-दूसरेकी वस्तु लूट-खसोट लेते हैं तथा उन्हें मार भी डालते हैं। उस विनाशकारी संध्यांशके उपस्थित होनेपर अराजकता फैल जाती है। उस समय सारी प्रजामें परस्पर भय बना रहता है। लोग व्याकुल होकर देवताओं और गृहोंको छोड़कर उनसे मुख मोड़ लेते हैं। सभीको अपने-अपने प्राणोंकी रक्षाकी चिन्ता लगी रहती है। क्रूरताका बोलबाला होनेके कारण लोग अत्यन्त दुःखी रहते हैं। श्रौत एवं स्मार्त धर्म नष्ट हो जाता है। सभी लोग काम और क्रोधके वशीभूत हो जाते हैं। वे मर्यादा, आनन्द, स्नेह और लज्जासे रहित हो जाते हैं। धर्मके नष्ट हो जानेपर वे भी विनष्ट हो जाते हैं। उनका कद छोटा हो जाता है और उनकी आयु पचीस वर्षकी हो जाती है। विषादसे व्याकुल हुए लोग अपनी पत्नी और पुत्रोंको भी छोड़ देते हैं। वे अकालसे पीड़ित होनेके कारण जीविकाके साधनोंका परित्याग कर कष्ट झेलते हैं तथा अपने जनपदोंको छोड़कर निकटवर्ती देशोंकी शरण लेते हैं ॥ ५९—७१ ॥

सरितः सागरानूपान् सेवन्ते पर्वतानपि । चीरकृष्णाजिनधरा निष्क्रिया निष्परिग्रहाः ॥ ७२ ॥
वर्णाश्रमपरिभ्रष्टाः संकरं घोरमास्थिताः । एवं कष्टमनुप्राप्ता ह्यल्पशेषाः प्रजास्ततः ॥ ७३ ॥
जन्तवश्च क्षुधाविष्टा दुःखान्निर्वेदमागमन् । संश्रयन्ति च देशांस्तांश्चक्रवत् परिवर्तनाः ॥ ७४ ॥
ततः प्रजास्तु ताः सर्वा मांसाहारा भवन्ति हि । मृगान् वराहान् वृषभान् ये चान्ये वनचारिणः ॥ ७५ ॥
भक्ष्यांश्चैवाप्यभक्ष्यांश्च सर्वांस्तान् भक्षयन्ति ताः । समुद्रसंश्रिता यास्तु नदीश्चैव प्रजास्तु ताः ॥ ७६ ॥
तेऽपि मत्स्यान् हरन्तीह आहारार्थं च सर्वशः । अभक्ष्याहारदोषेण एकवर्णगताः प्रजाः ॥ ७७ ॥
यथा कृतयुगे पूर्वमेकवर्णमभूत् किल । तथा कलियुगस्यान्ते शूद्रीभूताः प्रजास्तथा* ॥ ७८ ॥
एवं वर्षशतं पूर्णं दिव्यं तेषां न्यवर्तत । षट्त्रिंशच्च सहस्राणि मानुषाणि तु तानि वै ॥ ७९ ॥
अथ दीर्घेण कालेन पक्षिणः पशवस्तथा । मत्स्याश्चैव हताः सर्वैः क्षुधाविष्टैश्च सर्वशः ॥ ८० ॥
निःशेषेष्वथ सर्वेषु मत्स्यपक्षिपशुष्वथ । संध्यांशे प्रतिपन्ने तु निःशेषास्तु तदा कृताः ॥ ८१ ॥
ततः प्रजास्तु सम्भूय कन्दमूलमथोऽखनन् । फलमूलाशनाः सर्वे अनिकेतास्तथैव च ॥ ८२ ॥
वल्कलान्यथ वासांसि अधःशय्याश्च सर्वशः । परिग्रहो न तेष्वस्ति धनं शुद्धिरथापि वा ॥ ८३ ॥

कुछ लोग भागकर नदियों, समुद्र-तटवर्ती भागों तथा पर्वतोंका आश्रय ग्रहण करते हैं। वल्कल और काला मृगचर्म ही उनका परिधान होता है। वे क्रिया-हीन और परिग्रहरहित हो जाते हैं तथा वर्णाश्रम-धर्मसे भ्रष्ट होकर घोर संकर-धर्ममें आस्था करने लगते हैं। उस समय स्वल्प मात्रामें बची हुई प्रजा इस प्रकार कष्ट झेलती है। क्षुधासे पीड़ित जीवजन्तु दुःखके कारण अपने जीवनसे ऊब जाते हैं, किंतु चक्रकी तरह घूमते हुए पुनः उन्हीं देशोंका आश्रय ग्रहण करते हैं। तदनन्तर वे सारी प्रजाएँ मांसाहारी हो जाती हैं। उनमें भक्ष्याभक्ष्यका विचार लुप्त हो जाता है। वे मृगों, सूकरों, वृषभों तथा अन्यान्य सभी वनचारी जीवोंको खाने लगती हैं। जो प्रजाएँ नदियों और समुद्रोंके तटपर निवास करती हैं, वे भी भोजनके लिये सर्वत्र मछलियोंको

* कलियुगका वर्णन अन्य पुराणों, सुभाषितों, गोस्वामीजीके मानसादि काव्यों तथा समर्थरामदासजीके दासबोध आदिमें भी बड़े आकर्षक ढंगसे हुआ है जिनके अध्ययनसे लोग दोषोंसे बँचते हैं। पर मत्स्यपुराण-जितना विस्तृत वर्णन वायु, ब्रह्माण्डादि पुराणों एवं महाभारतवनपर्वमें भी नहीं हुआ है। तथापि वहाँ भी यह प्रसङ्ग प्रायः कुछ कम इन्हीं श्लोकोंमें मिलता है।

पकड़ती हैं। इस प्रकार अभक्ष्य भोजनके दोषके कारण सारी प्रजा एक वर्णकी हो जाती है, अर्थात् वर्णधर्म नष्ट हो जाता है। जैसे पहले कृतयुगमें एक ही (हंसनामका) वर्ण था, उसी तरह कलियुगके अन्तमें सारी प्रजाएँ शूद्रवर्णकी हो जाती हैं। इस प्रकार उन प्रजाओंके पूरे एक सौ दिव्य वर्ष तथा मानुष गणनाके अनुसार छत्तीस हजार वर्ष व्यतीत होते हैं। इतने लम्बे समयमें क्षुधासे पीड़ित वे सभी लोग सर्वत्र पशुओं, पक्षियों और मछलियोंको मारकर खा डालते हैं। इस प्रकार जब संध्यांशके प्रवृत्त होनेपर सारे मछली, पक्षी और पशु मारकर निःशेष कर दिये जाते हैं, तब पुनः लोग कन्द-मूल खोदकर खाने लगते हैं। उस समय वे सभी गृहरहित होकर फल-मूलपर ही जीवन-निर्वाह करते हैं। वल्कल ही उनका वस्त्र होता है। वे सर्वत्र भूमिपर ही शयन करते हैं। उनके परिग्रह (स्त्री-परिवार आदि), अर्थशुद्धि और शौचाचार आदि सब नष्ट हो जाते हैं॥ ७२—८३ ॥

एवं क्षयं गमिष्यन्ति ह्यल्पशिष्टाः प्रजास्तदा। तासामल्पावशिष्टानामाहाराद् वृद्धिरिष्यते ॥ ८४ ॥
एवं वर्षशतं दिव्यं संध्यांशस्तस्य वर्तते। ततो वर्षशतस्यान्ते अल्पशिष्टाः स्त्रियः सुताः ॥ ८५ ॥
मिथुनानि तु ताः सर्वा ह्यन्योन्यं सम्प्रजज्ञिरे। ततस्तास्तु म्रियन्ते वै पूर्वोत्पन्नाः प्रजास्तु याः ॥ ८६ ॥
जातमात्रेष्वपत्येषु ततः कृतमवर्तत। यथा स्वर्गे शरीराणि नरके चैव देहिनाम् ॥ ८७ ॥
उपभोगसमर्थानि एवं कृतयुगादिषु। एवं कृतस्य संतानः कलेश्चैव क्षयस्तथा ॥ ८८ ॥
विचारणात्तु निर्वेदः साम्यावस्थात्मना तथा। ततश्चैवात्मसम्बोधः सम्बोधाद्धर्मशीलता ॥ ८९ ॥
कलिशिष्टेषु तेष्वेवं जायन्ते पूर्ववत् प्रजाः। भाविनोऽर्थस्य च बलात्ततः कृतमवर्तत ॥ ९० ॥
अतीतानागतानि स्युर्यानि मन्वन्तरेष्विह। एते युगस्वभावास्तु मयोक्तास्तु समासतः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार उस समय थोड़ी बची हुई प्रजाएँ नष्ट हो जाती हैं। उनमें भी जो थोड़ी शेष रह जाती हैं, उनकी आहार-शुद्धिके कारण वृद्धि होती है। इस प्रकार कलियुगका संध्यांश एक सौ दिव्य वर्षोंका होता है। उन सौ वर्षोंके बीत जानेपर जो अल्पजीवी संतानोत्पत्ति होती है और इसके पूर्व जो प्रजाएँ उत्पन्न हुई थीं, वे सभी मर जाती हैं। उन संतानोंके उत्पन्न होनेपर कृतयुगका प्रारम्भ होता है। जैसे (मृत्युके पश्चात् प्राप्त हुए) प्राणियोंके शरीर स्वर्ग और नरकमें उपभोगके योग्य होते हैं, उसी तरह कृतयुग आदि युगोंमें भी होता है। उसी प्रकार वह नूतन संतान कृतयुगकी वृद्धि और कलियुगके विनाशका कारण होता है। आत्माकी साम्यावस्थाके विचारसे विरक्ति उत्पन्न होती है, उससे आत्मज्ञान होता है और ज्ञानसे धर्म-बुद्धि होती है। इसी कारण कलियुगके अन्तमें बचे हुए लोगोंमें भावी प्रयोजनके प्रभावसे पुनः पूर्ववत् प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। तदनन्तर कृतयुगका आरम्भ होता है। उस समय मन्वन्तरोंमें जो भूत एवं भावी कर्म होते रहे हैं, वे सभी आवृत्त होने लगते हैं। इस प्रकार मैंने संक्षेपसे युगोंके स्वभावका वर्णन कर दिया ॥८४—९१॥

विस्तरेणानुपूर्व्याच्च नमस्कृत्य स्वयम्भुवे। प्रवृत्ते तु ततस्तस्मिन् पुनः कृतयुगे तु वै ॥ ९२ ॥
उत्पन्नाः कलिशिष्टेषु प्रजाः कार्तयुगास्तथा। तिष्ठन्ति चेह ये सिद्धा अदृष्टा विहरन्ति च ॥ ९३ ॥
सह सप्तर्षिभिर्ये तु तत्र ये च व्यवस्थिताः। ब्रह्मक्षत्रविशः शूद्रा बीजार्थं य इह स्मृताः ॥ ९४ ॥
तेषां सप्तर्षयो धर्मं कथयन्तीह तेषु च ॥
वर्णाश्रमाचारयुतं श्रौतस्मार्तविधानतः। एवं तेषु क्रियावत्सु प्रवर्तन्तीह वै कृते ॥ ९५ ॥
श्रौतस्मार्तस्थितानां तु धर्मे सप्तर्षिदर्शिते। ते तु धर्मव्यवस्थार्थं तिष्ठन्तीह कृते युगे ॥ ९६ ॥
मन्वन्तराधिकारेषु तिष्ठन्ति ऋषयस्तु ते। यथा दावप्रदग्धेषु तृणेष्वेवापरं तृणम् ॥ ९७ ॥
वनानां प्रथमं वृष्ट्या तेषां मूलेषु सम्भवः। एवं युगाद्युगानां वै संतानस्तु परस्परम् ॥ ९८ ॥

प्रवर्तते ह्यविच्छेदाद् यावन्मन्वन्तरक्षयः। सुखमायुर्बलं रूपं धर्मोऽर्थो काम एव च ॥ ९९ ॥
युगेष्वेतानि हीयन्ते त्रयः पादाः क्रमेण तु। इत्येष प्रतिसंधिर्वः कीर्तितस्तु मया द्विजाः ॥१००॥

अब मैं पुनः कृतयुगके प्रवृत्त होनेपर ब्रह्माको नमस्कार करके उसका विस्तारपूर्वक आनुपूर्वी वर्णन कर रहा हूँ। कलियुगके अन्तमें बचे हुए लोगोंमें कृतयुगकी तरह ही संतानोत्पत्ति होती है। उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियोंके बीजकी रक्षाके लिये जो सिद्धगण अदृष्टरूपसे विचरण करते हुए वर्तमान रहते हैं, वे सभी तथा सप्तर्षियोंके साथ जो अन्य लोग स्थित रहते हैं, वे सभी मिलकर कृतयुगमें क्रियाशील संततियोंके प्रति व्यवस्थाका विधान करते हैं और सप्तर्षिगण उन्हें श्रौत एवं स्मार्त विधिके अनुसार वर्ण एवं आश्रमके आचारसे सम्पन्न धर्मका उपदेश देते हैं। इस प्रकार सप्तर्षियोंद्वारा प्रदर्शित धर्ममार्गपर चलती हुई सारी प्रजा श्रौत एवं स्मार्त विधिका पालन करती है। वे सप्तर्षि धर्मकी व्यवस्था करनेके लिये कृतयुगमें स्थित रहते हैं। वे ही ऋषिगण मन्वन्तरोंके कार्यकालतक स्थित रहते हैं। जैसे वनोंमें दावाग्निसे जली हुई घासोंकी जड़मे प्रथम वृष्टि होनेपर पुनः अङ्कुर उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार मन्वन्तरकी समाप्तिपर्यन्त एकसे दूसरे युगमें अविच्छिन्नरूपसे प्रजाओमें परस्पर संतानकी परम्परा चलती रहती है। सुख, आयु, बल, रूप, धर्म, अर्थ, काम—ये सब क्रमशः आनेवाले युगोंमें तीन चरणसे हीन हो जाते हैं। द्विजवरो! इस प्रकार मैंने आपलोगोंसे युगकी प्रतिसंधिका वर्णन किया ॥ ९२–१०० ॥

चतुर्युगाणां सर्वेषामेतदेव प्रसाधनम्। एषां चतुर्युगाणां तु गणिता ह्येकसप्ततिः ॥१०१॥
क्रमेण परिवृत्तास्ता मनोरन्तरमुच्यते। युगाख्यासु तु सर्वासु भवतीह यदा च यत् ॥१०२॥
तदेव च तदन्यासु पुनस्तद्वै यथाक्रमम्। सर्गे सर्गे यथा भेदा ह्युत्पद्यन्ते तथैव च ॥१०३॥
चतुर्दशसु तावन्तो ज्ञेया मन्वन्तरेष्विह। आसुरी यातुधानी च पैशाची यक्षराक्षसी ॥१०४॥
युगे युगे तदा काले प्रजा जायन्ति ताः शृणु। यथाकल्पं युगैः सार्धं भवन्ते तुल्यलक्षणाः ॥१०५॥
इत्येतल्लक्षणं प्रोक्तं युगानां वै यथाक्रमम्।
मन्वन्तराणां परिवर्तनानि चिरप्रवृत्तानि युगस्वभावात्।
क्षणं न संतिष्ठति जीवलोकः क्षयोदयाभ्यां परिवर्तमानः ॥ १०६ ॥
एते युगस्वभावा वः परिक्रान्ता यथाक्रमम्। मन्वन्तराणि यान्यस्मिन् कल्पे वक्ष्यामि तानि च ॥१०७॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे मन्वन्तरानुकीर्तनयुगवर्तनं नाम चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

यही नियम सभी—चारों युगोंके लिये है। ये चारों युग जब क्रमशः इकहत्तर वार बीत जाते हैं, तब उसे एक मन्वन्तरका समय कहा जाता है। एक मन्वन्तरके युगोमे जैसा कार्यक्रम होता है, वैसा ही अन्य मन्वन्तरके युगोंमें भी क्रमशः होता रहता है। प्रत्येक सर्गमें जैसे भेद उत्पन्न होते हैं, वैसे ही चौदहों मन्वन्तरोंमें समझना चाहिये। प्रत्येक युगमें समयानुसार असुर, यातुधान, पिशाच, यक्ष और राक्षस स्वभाववाली प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। अब उनके विषयमें सुनिये। कल्पानुसार युगोंके साथ-साथ उन्हींके अनुरूप लक्षणोंवाली प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार क्रमशः युगोंका यह लक्षण बतलाया गया। मन्वन्तरोंका यह परिवर्तन युगोंके स्वभावानुसार चिरकालसे चला आ रहा है। इसलिये यह जीवलोक उत्पत्ति और विनाशके चक्करमें फँसा हुआ क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रहता। इस प्रकार आपलोगोंको ये युगस्वभाव क्रमशः बतलाये जा चुके। अब इस कल्पमें जितने मन्वन्तर हैं, उनका वर्णन करूँगा ॥ १०१–१०७ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें मन्वन्तरानुकीर्तनयुगवर्तननामक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १४४ ॥

एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय

युगानुसार प्राणियोंकी शरीर-स्थिति एवं वर्ण-व्यवस्थाका वर्णन, श्रौत-स्मार्त- धर्म, तप, यज्ञ, क्षमा, शम, दया आदि गुणोंका लक्षण, चातुर्होत्रकी विधि तथा पाँच प्रकारके ऋषियोंका वर्णन

सूत उवाच

मन्वन्तराणि यानि स्युः कल्पे कल्पे चतुर्दश। व्यतीतानागतानि स्युर्यानि मन्वन्तरेष्विह ॥ १ ॥
विस्तरेणानुपूर्व्याच्च स्थितिं वक्ष्ये युगे युगे। तस्मिन् युगे च सम्भूतिर्यासां यावच्च जीवितम्॥ २ ॥
युगमात्रं तु जीवन्ति न्यूनं तत् स्याद् द्वयेन च। चतुर्दशसु तावन्तो ज्ञेया मन्वन्तरेष्विह ॥ ३ ॥
मनुष्याणां पशूनां च पक्षिणां स्थावरैः सह। तेषामायुरुपक्रान्तं युगधर्मेषु सर्वशः ॥ ४ ॥
तथैवायुः परिक्रान्तं युगधर्मेषु सर्वशः। अस्थितिं च कलौ दृष्ट्वा भूतानामायुषश्च वै ॥ ५ ॥
परमायुः शतं त्वेतन्मानुषाणां कलौ स्मृतम्। देवासुरमनुष्याश्च यक्षगन्धर्वराक्षसाः ॥ ६ ॥
परिणाहोच्छ्रये तुल्या जायन्तेह कृते युगे। षण्णवत्यङ्गुलोत्सेधो ह्यष्टानां देवयोनिनाम् ॥ ७ ॥
नवाङ्गुलप्रमाणेन निष्पन्नेन तथाष्टकम्। एतत्स्वाभाविकं तेषां प्रमाणमधिकुर्वताम् ॥ ८ ॥
मनुष्या वर्तमानास्तु युगसंध्यांशकेष्विह। देवासुरप्रमाणं तु सप्तसप्ताङ्गुलं क्रमात् ॥ ९ ॥
चतुराशीतिकैश्चैव कलिजैरङ्गुलैः स्मृतम्।

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! प्रत्येक कल्पमें जो चौदह मन्वन्तर होते हैं, उनमें जो बीत चुके हैं तथा जो आनेवाले हैं, उन मन्वन्तरोंके प्रत्येक युगमें प्रजाओंकी जैसी उत्पत्ति और स्थिति होती है तथा जितना उनका आयु-प्रमाण होता है, इन सबका विस्तारपूर्वक आनुपूर्वीक्रमसे वर्णन कर रहा हूँ। उनमें कुछ प्राणी तो युगपर्यन्त जीवित रहते हैं और कुछ उनसे कम समयतक ही जीते हैं। दोनों प्रकारकी बातें देखी जाती हैं। ऐसी ही विधि चौदहों मन्वन्तरोंमें जाननी चाहिये। सर्वत्र युगधर्मानुसार मनुष्यो, पशुओं, पक्षियो और स्थावरोंकी आयु घटती जाती है। कलियुगमें युग-धर्मानुसार सर्वत्र प्राणियोंकी आयुकी अस्थिरता देखकर मनुष्योंकी परमायु सौ वर्षकी बतलायी गयी है। कृतयुगमें देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व और राक्षस—ये सभी एक ही विस्तार और ऊँचाईके शरीरवाले उत्पन्न होते हैं। उनमें आठ प्रकारकी देव-योनियोमें उत्पन्न होनेवाले देवोंके शरीर छानबे अंगुल ऊँचे और नौ अंगुल विस्तृत निष्पन्न होते हैं, यह उनकी आयुका स्वाभाविक प्रमाण है। अन्य देवताओ तथा असुरोके शरीरका विस्तार क्रमशः सात-सात अंगुलका होता है। कलियुगके संध्यांशमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंके शरीर कलियुगोत्पन्न मानवोंके अंगुल-प्रमाणसे चौरासी अंगुलके होते हैं ॥ १–९½ ॥

आपादतो मस्तकं तु नवतालो भवेत्तु यः ॥ १० ॥
संहत्याजानुबाहुश्च दैवतैरभिपूज्यते। गवां च हस्तिनां चैव महिषस्थावरात्मनाम् ॥ ११ ॥
क्रमेणैतेन विज्ञेये ह्रासवृद्धी युगे युगे। षट्सप्तत्यङ्गुलोत्सेधः पशुराककुदो भवेत् ॥ १२ ॥
अङ्गुलानामष्टशतमुत्सेधो हस्तिनां स्मृतः। अङ्गुलानां सहस्रं तु द्विचत्वारिंशदङ्गुलम् ॥ १३ ॥
शतार्धमङ्गुलानां तु ह्युत्सेधः शाखिनां परः। मानुषस्य शरीरस्य संनिवेशस्तु यादृशः ॥ १४ ॥
तल्लक्षणं तु देवानां दृश्यतेऽन्यस्य दर्शनात्। बुद्ध्यातिशयसंयुक्तो देवानां काय उच्यते ॥ १५ ॥
तथा नातिशयश्चैव मानुषः काय उच्यते। इत्येव हि परिक्रान्ता भावा ये दिव्यमानुषाः ॥ १६ ॥
पशूनां पक्षिणां चैव स्थावराणां च सर्वशः। गावोऽजाश्वाश्च विज्ञेया हस्तिनः पक्षिणो मृगाः॥ १७ ॥

उपयुक्ताः क्रियास्वेते यज्ञियास्त्विह सर्वशः । यथाक्रमोपभोगाश्च देवानां पशुमूर्तयः ॥ १८ ॥
तेषां रूपानुरूपैश्च प्रमाणैः स्थिरजङ्गमाः । मनोज्ञैस्तत्र तैर्भोगैः सुखिनो ह्युपपेदिरे ॥ १९ ॥

जिसका शरीर पैरसे लेकर मस्तकपर्यन्त नौ बित्ता-(एक सौ आठ अंगुल-)का होता है तथा भुजाएँ जानु-तक लम्बी होती हैं, उसका देवतालोग भी आदर करते हैं । प्रत्येक युगमें गौओं, हाथियों, भैंसों और स्थावर प्राणियोंके शरीरोंका ह्रास एवं वृद्धि इसी क्रमसे जाननी चाहिये । पशु अपने ककुद् (मौर) तक छिहत्तर अंगुल ऊँचा होता है । हाथियोंके शरीरकी ऊँचाई एक सौ आठ अंगुलकी बतलायी जाती है । वृक्षोंकी अधिक-से-अधिक ऊँचाई एक हजार बानबे अंगुलकी होती है । मनुष्यके शरीरका जैसा आकार-प्रकार होता है, वही लक्षण वंशपरम्परावश देवताओंमें भी देखा जाता है । देवताओंका शरीर केवल बुद्धिकी अतिशयतासे युक्त बतलाया जाता है । मानव-शरीरमें बुद्धिकी उतनी अधिकता नहीं रहती । इस प्रकार देवताओं और मानवोंके शरीरोंमें उत्पन्न हुए जो भाव हैं, वे पशुओं, पक्षियों और स्थावर प्राणियोंके शरीरोंमें भी पाये जाते हैं । गौ, बकरा, घोड़ा, हाथी, पक्षी और मृग—इनका सर्वत्र यज्ञीय कर्मोंमें उपयोग होता है तथा ये पशुमूर्तियाँ क्रमशः देवताओंके उपभोगमें प्रयुक्त होती हैं । उन उपभोक्ता देवताओंके रूप और प्रमाणके अनुरूप ही उन चर-अचर प्राणियोंकी मूर्तियाँ होती हैं । वे उन मनोज्ञ भोगोंका उपयोग करके सुखका अनुभव करते हैं ॥ १०—१९ ॥

अथ सन्तः प्रवक्ष्यामि साधूनथ तथैव च ।

ब्राह्मणाः श्रुतिशब्दाश्च देवानां व्यक्तमूर्तयः । सम्पूज्या ब्रह्मणा ह्येतास्तेन सन्तः प्रचक्षते ॥ २० ॥
सामान्येषु च धर्मेषु तथा वैशेषिकेषु च । ब्रह्मक्षत्रविशो युक्ताः श्रौतस्मार्तेन कर्मणा ॥ २१ ॥
वर्णाश्रमेषु युक्तस्य सुखोदर्कस्य स्वर्गतौ । श्रौतस्मार्तो हि यो धर्मो ज्ञानधर्मः स उच्यते ॥ २२ ॥
दिव्यानां साधनात् साधुर्ब्रह्मचारी गुरोर्हितः । कारणात् साधनाच्चैव गृहस्थः साधुरुच्यते ॥ २३ ॥
तपसश्च तथारण्ये साधुर्वैखानसः स्मृतः । यतमानो यतिः साधुः स्मृतो योगस्य साधनात् ॥ २४ ॥
धर्मो धर्मगतिः प्रोक्तः शब्दो ह्येष क्रियात्मकः । कुशलाकुशलौ चैव धर्माधर्मौ ब्रवीत् प्रभुः ॥ २५ ॥
अथ देवाश्च पितरः ऋषयश्चैव मानुषाः । अयं धर्मो ह्ययं नेति ब्रुवते मौनमूर्तिना ॥ २६ ॥
धर्मेति धारणे धातुर्महत्त्वे चैव उच्यते । अधारणेऽमहत्त्वे वाधर्मः स तु निरुच्यते ॥ २७ ॥
तत्रेष्टप्रापको धर्म आचार्यैरुपदिश्यते । अधर्मश्चानिष्टफल आचार्यैर्नोपदिश्यते ॥ २८ ॥
वृद्धाश्चालोलुपाश्चैव आत्मवन्तो ह्यदाम्भिकाः । सम्यग्विनीता मृदवस्तानाचार्यान् प्रचक्षते ॥ २९ ॥
धर्मज्ञैर्विहितो धर्मः श्रौतस्मार्तो द्विजातिभिः । दाराग्निहोत्रसम्बन्धमिज्या श्रौतस्य लक्षणम् ॥ ३० ॥
स्मार्तो वर्णाश्रमाचारो यमैश्च नियमैर्युतः ।

अब मैं संतों तथा साधुओंका वर्णन कर रहा हूँ । ब्राह्मण ग्रन्थ और श्रुतियोंके शब्द—ये भी देवताओंकी निर्देशिका-मूर्तियाँ हैं । अन्तःकरणमें इनके तथा ब्रह्मका संयोग बना रहता है, इसलिये ये संत कहलाते हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सामान्य एवं विशेष धर्मोंमें सर्वत्र श्रौत एवं स्मार्त विधिके अनुसार कर्मका आचरण करते हैं । वर्णाश्रम-धर्मोंके पालनमें तत्पर तथा स्वर्ग-प्राप्तिमें सुख माननेवाले लोगोंद्वारा आचरित जो श्रुति एवं स्मृति-सम्बन्धी धर्म है, उसे ज्ञानधर्म कहा जाता है । दिव्य सिद्धियोंकी साधनामें संलग्न तथा गुरुका हितैषी होनेके कारण ब्रह्मचारीको साधु कहते हैं । (अन्य आश्रमोंकी जीविकाका) निमित्त तथा स्वयं साधनामें निरत होनेके कारण गृहस्थ भी साधु कहलाता है । वनमें तपस्या करनेवाला साधु वैखानस नामसे अभिहित होता है । योगकी साधनामें प्रयत्नशील संन्यासीको भी साधु कहते हैं । 'धर्म' शब्द क्रियात्मक है और यह

धर्माचरणमें ही प्रयुक्त होनेवाला कहा गया है। सामर्थ्यशाली भगवान्‌ने धर्मको कल्याणकारक और अधर्मको अनिष्टकारक बतलाया है तथा देवता, पितर, ऋषि और मानव 'यह धर्म है और यह धर्म नहीं है' ऐसा कहकर मौन धारण कर लेते हैं। 'धृ' धातु धारण करने तथा महत्त्वके अर्थमें प्रयुक्त होती है। अधारण एवं अधर्म शब्दका अर्थ इसके विपरीत है। आचार्यलोग इष्टकी प्राप्ति करानेवाले धर्मका ही उपदेश करते हैं। अधर्म अनिष्ट-फलदायक होता है, इसलिये आचार्यगण उसका उपदेश नहीं करते। जो वृद्ध, निर्लोभ, आत्मज्ञानी, निष्कपट, अत्यन्त विनम्र तथा मृदुल स्वभाववाले होते हैं, उन्हें आचार्य कहा जाता है। धर्मके ज्ञाता द्विजातियोंद्वारा श्रौत एवं स्मार्त-धर्मका विधान किया गया है। इनमें दारसम्बन्ध (विवाह), अग्निहोत्र और यज्ञ—ये श्रौत-धर्मके लक्षण हैं तथा यम और नियमोंसे युक्त वर्णाश्रमका आचरण स्मार्त-धर्म कहलाता है ॥ २०—३०½ ॥

पूर्वेभ्यो वेदयित्वेह श्रौतं सप्तर्षयोऽब्रुवन् ॥ ३१ ॥
ऋचो यजूंषि सामानि ब्रह्मणोऽङ्गानि वै श्रुतिः। मन्वन्तरस्यातीतस्य स्मृत्वा तन्मनुरब्रवीत् ॥ ३२ ॥
तस्मात्स्मार्तः स्मृतो धर्मो वर्णाश्रमविभागशः। एवं वै द्विविधो धर्मः शिष्टाचारः स उच्यते ॥ ३३ ॥
शिषेर्धातोश्च निष्ठान्ताच्छिष्टशब्दं प्रचक्षते। मन्वन्तरेषु ये शिष्टा इह तिष्ठन्ति धार्मिकाः ॥ ३४ ॥
मनुः सप्तर्षयश्चैव लोकसन्तानकारिणः। तिष्ठन्तीह च धर्मार्थं ताञ्छिष्टान् सम्प्रचक्षते ॥ ३५ ॥
तैः शिष्टैश्चलितो धर्मः स्थाप्यते वै युगे युगे। त्रयी वार्ता दण्डनीतिः प्रजावर्णाश्रमेप्सया ॥ ३६ ॥
शिष्टैराचर्यते यस्मात्पुनश्चैव मनुक्षये। पूर्वैः पूर्वैर्मतत्वाच्च शिष्टाचारः स शाश्वतः ॥ ३७ ॥
दानं सत्यं तपोऽलोभो विद्येज्या पूजनं दमः। अष्टौ तानि चरित्राणि शिष्टाचारस्य लक्षणम् ॥ ३८ ॥
शिष्टा यस्माच्चरन्त्येनं मनुः सप्तर्षयश्च ह। मन्वन्तरेषु सर्वेषु शिष्टाचारस्ततः स्मृतः ॥ ३९ ॥
विज्ञेयः श्रवणाच्छ्रौतः स्मरणात् स्मार्त उच्यते। इज्यावेदात्मकः श्रौतः स्मार्तो वर्णाश्रमात्मकः ॥ ४० ॥

सप्तर्षियोंने पूर्ववर्ती ऋषियोंसे श्रौत-धर्मका ज्ञान प्राप्त करके पुनः उसका उपदेश किया था। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—ये ब्रह्माके अङ्ग हैं। व्यतीत हुए मन्वन्तरके धर्मोंका स्मरण करके मनुने उनका उपदेश किया है। इसलिये वर्णाश्रमके विभागानुसार प्रयुक्त हुआ धर्म स्मार्त कहलाता है। इस प्रकार श्रौत एवं स्मार्तरूप द्विविध धर्मको शिष्टाचार कहते हैं। 'शिष्' धातुसे निष्ठासंज्ञक 'क्त' प्रत्ययका संयोग होनेसे 'शिष्ट' शब्द निष्पन्न होता है। प्रत्येक मन्वन्तरमें इस भूतलपर जो धार्मिकलोग वर्तमान रहते हैं, उन्हें शिष्ट कहा जाता है। इस प्रकार लोककी वृद्धि करनेवाले सप्तर्षि और मनु इस भूतलपर धर्मका प्रचार करनेके लिये स्थित रहते हैं, अतः वे शिष्ट शब्दसे अभिहित होते हैं। वे शिष्टगण प्रत्येक युगमें मार्ग-भ्रष्ट हुए धर्मकी पुनः स्थापना करते हैं। इसीलिये शिष्टगण दूसरे मन्वन्तरमें प्रजाओंके वर्णाश्रम-धर्मको सिद्धिके लिये पुनः वेदत्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद), वार्ता (कृषि-व्यापार) और दण्डनीतिका आचरण करते हैं। इस प्रकार पूर्वके युगोंमें उपस्थित पूर्वजोंद्वारा अभिमत होनेके कारण यह शिष्टाचार सनातन होता है। दान, सत्य, तपस्या, निर्लोभता, विद्या, यज्ञानुष्ठान, पूजन और इन्द्रियनिग्रह—ये आठ आचरण शिष्टाचारके लक्षण हैं। चूँकि मनु और सप्तर्षि आदि शिष्टगण सभी मन्वन्तरोंमें इस लक्षणके अनुसार आचरण करते हैं, इसलिये इसे शिष्टाचार कहा जाता है। इस प्रकार पूर्वानुक्रमसे श्रवण किये जानेके कारण श्रुतिसम्बन्धी धर्मको श्रौत जानना चाहिये और स्मरण होनेके कारण स्मृति-प्रतिपादित धर्मको स्मार्त कहा जाता है। श्रौत-धर्म यज्ञ और वेदस्वरूप है तथा स्मार्तधर्म वर्णाश्रम-धर्म-नियामक है ॥ ३१—४० ॥

प्रत्यङ्गानि प्रवक्ष्यामि धर्मस्येह तु लक्षणम् ॥ ४१ ॥
दृष्टानुभूतमर्थं च यः पृष्टो न निगूहते । यथाभूतप्रवादस्तु इत्येतत् सत्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥
ब्रह्मचर्यं तपो मौनं निराहारत्वमेव च । इत्येतत् तपसो रूपं सुघोरं तु दुरासदम् ॥ ४३ ॥
पशूनां द्रव्यहविषामृक्सामयजुषां तथा । ऋत्विजां दक्षिणायाश्च संयोगो यज्ञ उच्यते ॥ ४४ ॥
आत्मवत्सर्वभूतेषु यो हिताय शुभाय च । वर्तते सततं हृष्टः क्रिया श्रेष्ठा दया स्मृता ॥ ४५ ॥
आक्रुष्टोऽभिहतो यस्तु नाक्रोशेत्प्रहरेदपि । अदुष्टो वाङ्मनःकायैस्तितिक्षा सा क्षमा स्मृता ॥ ४६ ॥
स्वामिना रक्ष्यमाणानामुत्सृष्टानां च सम्भ्रमे । परस्वानामनादानमलोभ इति संज्ञितः ॥ ४७ ॥
मैथुनस्यासमाचारो जल्पनाच्चिन्तनात्तथा । निवृत्तिर्ब्रह्मचर्यं च तदेतच्छमलक्षणम् ॥ ४८ ॥

अब मैं धर्मके प्रत्येक अङ्गका लक्षण बतला रहा हूँ । देखे तथा अनुभव किये हुए विषयके पूछे जानेपर उसे न छिपाना, अपितु घटित हुएके अनुसार यथार्थ कह देना—यह सत्यका लक्षण है । ब्रह्मचर्य, तपस्या, मौनावलम्बन और निराहार रहना—ये तपस्याके लक्षण हैं, जो अत्यन्त भीषण एवं दुष्कर हैं । जिसमें पशु, द्रव्य, हवि, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, ऋत्विज् तथा दक्षिणाका संयोग होता है, उसे यज्ञ कहते हैं । जो अपनी ही भाँति समस्त प्राणियोंके प्रति उनके हित तथा मङ्गलके लिये निरन्तर हर्षपूर्वक व्यवहार करता है, उसकी वह श्रेष्ठ क्रिया दया कहलाती है । जो निन्दित होनेपर बदलेमें निन्दककी निन्दा नहीं करता तथा आघात किये जानेपर भी बदलेमें उसपर प्रहार नहीं करता, अपितु मन, वचन और शरीरसे प्रतीकारकी भावनासे रहित हो उसे सहन कर लेता है, उसकी उस क्रियाको क्षमा कहते हैं । स्वामीद्वारा रक्षाके लिये दिये गये तथा घबराहटमें छूटे हुए परकीय धनको न ग्रहण करना निर्लोभ नामसे कहा जाता है । मैथुनके विषयमें सुनने, कहने तथा चिन्तन करनेसे निवृत्त रहना ब्रह्मचर्य है और यही शमका लक्षण है ॥

आत्मार्थे वा परार्थे वा इन्द्रियाणीह यस्य वै । विषये न प्रवर्तन्ते दमस्यैतत्तु लक्षणम् ॥ ४९ ॥
पञ्चात्मके यो विषये कारणे चाष्टलक्षणे । न क्रुध्येत प्रतिहतः स जितात्मा भविष्यति ॥ ५० ॥
यद्यदिष्टतमं द्रव्यं न्यायेनैवागतं च यत् । तत्तद् गुणवते देयमित्येतद् दानलक्षणम् ॥ ५१ ॥
श्रुतिस्मृतिभ्यां विहितो धर्मो वर्णाश्रमात्मकः । शिष्टाचारप्रवृद्धश्च धर्मोऽयं साधुसम्मतः ॥ ५२ ॥
अप्रद्वेष्यो ह्यनिष्टेषु इष्टं वै नाभिनन्दति । प्रीतितापविषादानां विनिवृत्तिर्विरक्तता ॥ ५३ ॥
संन्यासः कर्मणां न्यासः कृतानामकृतैः सह । कुशलाकुशलाभ्यां तु प्रहाणं न्यास उच्यते ॥ ५४ ॥
अव्यक्तादिविशेषान्ताद् विकारोऽस्मिन्निवर्तते । चेतनाचेतनं ज्ञात्वा ज्ञाने ज्ञानी स उच्यते ॥ ५५ ॥
प्रत्यङ्गानि तु धर्मस्य चेत्येतल्लक्षणं स्मृतम् । ऋषिभिर्धर्मतत्त्वज्ञैः पूर्वं स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥ ५६ ॥

जिसकी इन्द्रियाँ अपने अथवा परायेके हितके लिये विषयोंमें नहीं प्रवृत्त होतीं, यह दमका लक्षण है । जो पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषयों तथा आठ प्रकारके कारणोंमें बाधित होनेपर भी क्रोध नहीं करता, वह जितात्मा कहलाता है । जो-जो पदार्थ अपनेको अभीष्ट हों तथा न्यायद्वारा उपार्जित किये गये हों, उन्हें गुणी व्यक्तिको दे देना—यह दानका लक्षण है । जो धर्म श्रुतियों एवं स्मृतियोंद्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रमके आचारसे युक्त तथा शिष्टाचारद्वारा परिवर्धित होता है, वही साधु-सम्मत धर्म कहलाता है । अनिष्टके प्राप्त होनेपर उससे द्वेष न करना, इष्टकी प्राप्तिपर उसका अभिनन्दन न करना तथा प्रेम, संताप और विषादसे विशेषतया निवृत्त हो जाना—यह विरक्ति-(वैराग्य-) का लक्षण है । किये हुए कर्मोंका न किये गये कर्मोंके साथ त्याग कर देना अर्थात् कृत-अकृत दोनों प्रकारके कर्मोंका त्याग संन्यास कहलाता है तथा कुशल (शुभ)

और अकुशल (अशुभ)—दोनोंके परित्यागको न्यास कहते हैं। जिस ज्ञानके प्राप्त होनेपर अव्यक्तसे लेकर विशेषपर्यन्त सभी प्रकारके विकार निवृत्त हो जाते हैं तथा चेतन और अचेतनका ज्ञान हो जाता है, उस ज्ञानसे युक्त प्राणीको ज्ञानी कहते हैं। स्वायम्भुव मन्वन्तरमें धर्मतत्त्वके ज्ञाता पूर्वकालीन ऋषियोंने धर्मके प्रत्येक अङ्गका यही लक्षण बतलाया है ॥ ४९—५६ ॥

अत्र वो वर्णयिष्यामि विधिं मन्वन्तरस्य तु । तथैव चातुर्होत्रस्य चातुर्वर्ण्यस्य चैव हि ॥ ५७ ॥
प्रतिमन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते । ऋचो यजूंषि सामानि यथावत्प्रतिदैवतम् ॥ ५८ ॥
विधिहोत्रं तथा स्तोत्रं पूर्ववत् सम्प्रवर्तते । द्रव्यस्तोत्रं गुणस्तोत्रं कर्मस्तोत्रं तथैव च ॥ ५९ ॥
तथैवाभिजनस्तोत्रं स्तोत्रमेवं चतुर्विधम् । मन्वन्तरेषु सर्वेषु यथाभेदा भवन्ति हि ॥ ६० ॥
प्रवर्तयन्ति तेषां वै ब्रह्मस्तोत्रं पुनः पुनः । एवं मन्त्रगुणानां तु समुत्पत्तिश्चतुर्विधम् ॥ ६१ ॥
अथर्वऋग्यजुःसाम्नां वेदेष्विह पृथक् पृथक् । ऋषीणां तप्यतां तेषां तपः परमदुश्चरम् ॥ ६२ ॥
मन्त्राः प्रादुर्भवन्त्यादौ पूर्वमन्वन्तरस्य ह । असंतोषाद् भयाद् दुःखान्मोहाच्छोकाच्च पञ्चधा॥ ६३ ॥
ऋषीणां तारका येन लक्षणेन यदृच्छया । ऋषीणां यादृशत्वं हि तद् वक्ष्यामीह लक्षणम् ॥ ६४ ॥
अतीतानागतानां च पञ्चधा ह्यार्षकं स्मृतम् । तथा ऋषीणां वक्ष्यामि आर्षस्येह समुद्भवम् ॥ ६५ ॥
गुणसाम्येन वर्तन्ते सर्वसम्प्रलये तदा । अविभागेन देवानामनिर्देश्यतमोमये ॥ ६६ ॥
अबुद्धिपूर्वकं तद् वै चेतनार्थं प्रवर्तते । तेनार्षं बुद्धिपूर्वं तु चेतनेनाप्यधिष्ठितम् ॥ ६७ ॥
प्रवर्तते तथा ते तु यथा मत्स्योदकावुभौ । चेतनाधिकृतं सर्वं प्रावर्तत गुणात्मकम् ।

अब मैं आपलोगोंसे मन्वन्तरमें होनेवाले चारों वर्णोंके चातुर्होत्रकी विधिका वर्णन कर रहा हूँ। प्रत्येक मन्वन्तरमें विभिन्न प्रकारकी श्रुतिका विधान होता है, किंतु ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—ये तीनों वेद देवताओंसे संयुक्त रहते हैं। अग्निहोत्रकी विधि तथा स्तोत्र पूर्ववत् चलते रहते हैं। द्रव्यस्तोत्र, गुणस्तोत्र, कर्मस्तोत्र और अभिजनस्तोत्र—ये चार प्रकारके स्तोत्र होते हैं तथा सभी मन्वन्तरोंमें कुछ भेदसहित प्रकट होते हैं। उन्हींसे ब्रह्मस्तोत्रकी बारंबार प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार मन्त्रोंके गुणोंकी समुत्पत्ति चार प्रकारकी होती है, जो अथर्व, ऋक्, यजुः और साम—इन चारों वेदोंमें पृथक्-पृथक् प्राप्त होती है। पूर्व मन्वन्तरके आदिमें परम दुष्कर तपस्यामें लगे हुए उन ऋषियोंके अन्तःकरणमें ये मन्त्र प्रादुर्भूत होते हैं। ये असंतोष, भय, कष्ट, मोह और शोकरूप पाँच प्रकारके कष्टोंसे ऋषियोंकी रक्षा करते हैं। अब ऋषियोंका जैसा लक्षण, जैसी इच्छा तथा जैसा व्यक्तित्व होता है, उसका लक्षण बतला रहा हूँ। भूतकालीन तथा भविष्यत्कालीन ऋषियोंमें आर्ष शब्दका प्रयोग पाँच प्रकारसे होता है। अब मैं आर्ष शब्दकी उत्पत्ति बतला रहा हूँ। समस्त महाप्रलयोंके समय जब सारा जगत् घोर अन्धकारसे आच्छादित हो जाता है, उस समय देवताओंका कोई विभाग नहीं रह जाता। तीनों गुण अपनी साम्यावस्थामें स्थित हो जाते हैं, तब जो बिना ज्ञानका सहारा लिये चेतनताको प्रकट करनेके लिये प्रवृत्त होता है, उस चेतनाधिष्ठित ज्ञानयुक्त कर्मको आर्ष कहते हैं। वे मत्स्य और उदककी भाँति आधाराधेयरूपसे प्रवृत्त होते हैं। तब सारा त्रिगुणात्मक जगत् चेतनासे युक्त हो जाता है ॥ ५७—६७½॥

कार्यकारणभावेन तथा तस्य प्रवर्तते ॥ ६८ ॥
विषयो विषयित्वं च तथा ह्यर्थपदात्मकौ । कालेन प्रापणीयेन भेदाश्च कारणात्मकाः ॥ ६९ ॥
सांसिद्धिकास्तदा वृत्ताः क्रमेण [illegible] । [illegible] भूतेन्द्रियाणि च ॥ ७० ॥
भूतभेदाश्च भूतेभ्यो जज्ञिरे [illegible] । कार्यं तद्य एव विवर्तते ॥ ७१ ॥

यथोल्मुकात् तु विटपा एककालाद् भवन्ति हि। तथा प्रवृत्ताः क्षेत्रज्ञाः कालेनैकेन कारणात्॥ ७२॥
यथान्धकारे खद्योतः सहसा सम्प्रदृश्यते। तथा निवृत्तो ह्यव्यक्तः खद्योत इव सञ्ज्वलन्॥ ७३॥
स महात्मा शरीरस्थस्तत्रैव परिवर्तते। महतस्तमसः पारे वैलक्षण्याद् विभाव्यते॥ ७४॥
तत्रैव संस्थितो विद्वांस्तपसोऽन्त इति श्रुतम्। बुद्धिर्विवर्धतस्तस्य प्रादुर्भूता चतुर्विधा॥ ७५॥
ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं धर्मश्चेति चतुष्टयम्। सांसिद्धिकान्यथैतानि अप्रतीतानि तस्य वै॥ ७६॥
महात्मनः शरीरस्य चैतन्यात् सिद्धिरुच्यते। पुरि शेते यतः पूर्वं क्षेत्रज्ञानं तथापि च॥ ७७॥
पुरे शयानात् पुरुषः ज्ञानात् क्षेत्रज्ञ उच्यते। यस्माद् धर्मात् प्रसूते हि तस्माद् वै धार्मिकः स्मृतः॥ ७८॥
सांसिद्धिके शरीरे च बुद्ध्याव्यक्तस्तु चेतनः। एवं विवृत्तः क्षेत्रज्ञः क्षेत्रं ह्यनभिसंधितः॥ ७९॥
निवृत्तिसमकाले तु पुराणं तदचेतनम्। क्षेत्रज्ञेन परिज्ञातं भोग्योऽयं विषयो मम॥ ८०॥

उस जगत्की प्रवृत्ति कार्य-कारण-भावसे उसी प्रकार होती है, जैसे विषय और विषयित्व तथा अर्थ और पद परस्पर घुले-मिले रहते हैं। प्राप्त हुए कालके अनुसार कारणात्मक भेद उत्पन्न हो जाते हैं। तब क्रमशः महत्तत्त्व आदि प्राकृतिक तत्त्व प्रकट होते हैं। उस महत्तत्त्वसे अहंकार और अहंकारसे भूतेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् उन भूतोंसे परस्पर अनेकों प्रकारके भूत उत्पन्न होते हैं। तब प्रकृतिका कारण तुरंत ही कार्य-रूपमें परिणत हो जाता है। जैसे एक ही उल्मुक—मशालसे एक ही साथ अनेकों वृक्ष प्रकाशित हो जाते हैं, उसी प्रकार एक ही कारणसे एक ही समय अनेकों क्षेत्रज्ञ—जीव प्रकट हो जाते हैं। जैसे घने अन्धकारमें सहसा जुगनू चमक उठता है, वैसे ही जुगनूकी तरह चमकता हुआ अव्यक्त प्रकट हो जाता है। वह महात्मा अव्यक्त शरीरमें ही स्थित रहता है और महान् अन्धकारको पार करके बड़ी विलक्षणतासे जाना जाता है। वह विद्वान् अव्यक्त अपनी तपस्याके अन्त समयतक वहीं स्थित रहता है, ऐसा सुना जाता है। वृद्धिको प्राप्त होते हुए उस अव्यक्तके हृदयमें चार प्रकारकी बुद्धि प्रादुर्भूत होती है। उन चारोंके नाम हैं—ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म। उस अव्यक्तके ये प्राकृतिक कर्म अगम्य हैं। महात्मा अव्यक्तके शरीरके चैतन्यसे सिद्धिका प्रादुर्भाव बतलाया जाता है। चूँकि वह पहले-पहल शरीरमें शयन करता है तथा उसे क्षेत्रका ज्ञान प्राप्त रहता है, इसलिये वह शरीरमें शयन करनेसे पुरुष और क्षेत्रका ज्ञान होनेसे क्षेत्रज्ञ कहलाता है। चूँकि वह धर्मसे उत्पन्न होता है, इसलिये उसे धार्मिक भी कहते हैं। प्राकृतिक शरीरमें बुद्धिका संयोग होनेसे वह अव्यक्त चेतन कहलाता है तथा क्षेत्रसे कोई प्रयोजन न होनेपर भी उसे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। निवृत्तिके समय क्षेत्रज्ञ उस अचेतन पुराणपुरुषको जानता है कि यह मेरा भोग्य विषय है॥ ६८—८०॥

ऋषिर्हिंसागतौ धातुर्विद्या सत्यं तपः श्रुतम्। एष संनिचयो यस्माद् ब्रह्मणस्तु ततस्त्वृषिः॥ ८१॥
निवृत्तिसमकालाच्च बुद्ध्याव्यक्त ऋषिस्त्वयम्। ऋषते परमं यस्मात् परमर्षिस्ततः स्मृतः॥ ८२॥
गत्यर्थाद् ऋषतेर्धातोर्नामनिर्वृत्तिकारणम्। यस्मादेष स्वयम्भूतस्तस्माच्च ऋषिता मता॥ ८३॥
सेश्वराः स्वयमुद्भूता ब्रह्मणो मानसाः सुताः। निवर्तमानैस्तैर्बुद्ध्या महान् परिगतः परः॥ ८४॥
यस्मादृषिर्महत्त्वेन ज्ञेयास्तस्मान्महर्षयः। ईश्वराणां सुतास्तेषां मानसाश्चौरसाश्च वै॥ ८५॥
ऋषिस्तस्मात् परत्वेन भूतादिर्ऋषयस्ततः। ऋषिपुत्रा ऋषीकास्तु मैथुनाद् गर्भसम्भवाः॥ ८६॥
परत्वेन ऋषन्ते वै भूतादीन् ऋषिकास्ततः। ऋषीकाणां सुता ये तु विज्ञेया ऋषिपुत्रकाः॥ ८७॥
श्रुत्वा ऋषं परत्वेन श्रुतास्तस्माच्छ्रुतर्षयः। अव्यक्तात्मा महात्मा वाहङ्कारात्मा तथैव च॥ ८८॥
भूतात्मा चेन्द्रियात्मा च तेषां तज्ज्ञानमुच्यते।

'ऋषि' धातुका हिंसा और गति-अर्थमें प्रयोग होता है। इसीसे 'ऋषि' शब्द निष्पन्न हुआ है। चूँकि उसे ब्रह्मासे विद्या, सत्य, तप, शास्त्र-ज्ञान आदि समूहोंकी प्राप्ति होती है, इसलिये उसे ऋषि कहते हैं। यह अव्यक्त ऋषि निवृत्तिके समय जब बुद्धि-बलसे परम-पदको प्राप्त कर लेता है, तब वह परमर्षि कहलाता है। गत्यर्थक* 'ऋषी' धातुसे ऋषिनामकी निष्पत्ति होती है तथा वह स्वयं उत्पन्न होता है, इसलिये उसकी ऋषिता मानी गयी है। ब्रह्माके मानस पुत्र ऐश्वर्यशाली वे ऋषि स्वयं उत्पन्न हुए हैं। निवृत्तिमार्गमें लगे हुए वे ऋषि बुद्धिबलसे परम महान् पुरुषको प्राप्त कर लेते हैं। चूँकि वे ऋषि महान् पुरुषत्वसे युक्त रहते हैं, इसलिये महर्षि कहे जाते हैं। उन ऐश्वर्यशाली महर्षियोंको जो मानस एवं औरस पुत्र हुए, वे ऋषिपरक होनेके कारण प्राणियोंमें सर्वप्रथम ऋषि कहलाये। मैथुनद्वारा गर्भसे उत्पन्न हुए ऋषि-पुत्रोंको ऋषिक कहा जाता है। चूँकि ये जीवोंको ब्रह्मपरक बनाते हैं, इसलिये इन्हें ऋषिक कहा जाता है। ऋषिकके पुत्रोंको ऋषि-पुत्रक जानना चाहिये। वे दूसरेसे ऋषिधर्मको सुनकर ज्ञानसम्पन्न होते हैं, इसलिये श्रुतर्षि कहलाते हैं। उनका वह ज्ञान अव्यक्तात्मा, महात्मा, अहंकारात्मा, भूतात्मा और इन्द्रियात्मा कहलाता है ॥ ८१—८८½ ॥

इत्येवमृषिजातिस्तु पञ्चधा नाम विश्रुता ॥ ८९ ॥
भृगुर्मरीचिरत्रिश्च अङ्गिराः पुलहः क्रतुः। मनुर्दक्षो वसिष्ठश्च पुलस्त्यश्चापि ते दश ॥ ९० ॥
ब्रह्मणो मानसा ह्येते उत्पन्नाः स्वयमीश्वराः। परत्वेनर्षयो यस्मान्मतास्तस्मान्महर्षयः ॥ ९१ ॥
ईश्वराणां सुतास्त्वेषामृषयस्तान् निबोधत। काव्यो बृहस्पतिश्चैव कश्यपश्च्यवनस्तथा ॥ ९२ ॥
उतथ्यो वामदेवश्च अगस्त्यः कौशिकस्तथा। कर्दमो बालखिल्याश्च विश्रवाः शक्तिवर्धनः ॥ ९३ ॥
इत्येते ऋषयः प्रोक्तास्तपसा ऋषितां गताः। तेषां पुत्रानृषीकांस्तु गर्भोत्पन्नान् निबोधत ॥ ९४ ॥
वत्सरो नग्नहूश्चैव भरद्वाजश्च वीर्यवान्। ऋषिर्दीर्घतमाश्चैव बृहद्वक्षाः शरद्वतः ॥ ९५ ॥
वाजिश्रवाः सुचिन्तश्च शावश्च सपराशरः। शृङ्गी च शङ्खपाच्चैव राजा वैश्रवणस्तथा ॥ ९६ ॥
इत्येते ऋषिकाः सर्वे सत्येन ऋषितां गताः। ईश्वरा ऋषयश्चैव ऋषीका ये च विश्रुताः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार ऋषिजाति पाँच प्रकारसे विख्यात है। भृगु, मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ और पुलस्त्य—ये दस ऐश्वर्यशाली ऋषि ब्रह्माके मानस पुत्र हैं और स्वयं उत्पन्न हुए हैं। ये ऋषिगण ब्रह्मपरत्वसे युक्त हैं, इसलिये महर्षि माने गये हैं। अब इन ऐश्वर्यशाली महर्षियोंके पुत्ररूप जो ऋषि हैं, उन्हें सुनिये। काव्य (शुक्राचार्य), बृहस्पति, कश्यप, च्यवन, उतथ्य, वामदेव, अगस्त्य, कौशिक, कर्दम, बालखिल्य, विश्रवा और शक्तिवर्धन—ये सभी ऋषि कहलाते हैं, जो अपने तपोबलसे ऋषिताको प्राप्त हुए हैं। अब इन ऋषियोंद्वारा गर्भसे उत्पन्न हुए ऋषीक नामक पुत्रोंको सुनिये। वत्सर, नग्नहू, पराक्रमी भरद्वाज, दीर्घतमा, बृहद्वक्षा, शरद्वान्, वाजिश्रवा, सुचिन्त, शाव, पराशर, शृङ्गी, शङ्खपाद् और राजा वैश्रवण—ये सभी ऋषिक हैं और सत्यके प्रभावसे ऋषिताको प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार जो ईश्वर (परमर्षि एवं महर्षि), ऋषि और ऋषिक नामसे विख्यात हैं, उनका वर्णन किया गया ॥ ८९—९७ ॥

एवं मन्त्रकृतः सर्वे कृत्स्नशश्च निबोधत। भृगुः काश्यः प्रचेता च दधीचो ह्यात्मवानपि ॥ ९८ ॥
ऊर्वोऽथ जमदग्निश्च वेदः सारस्वतस्तथा। आर्ष्टिषेणश्च्यवनश्च वीतहव्यः सवेधसः ॥ ९९ ॥
वैण्यः पृथुर्दिवोदासो ब्रह्मवान् गृत्सशौनकौ। एकोनविंशतिर्ह्येते भृगवो मन्त्रकृत्तमाः ॥१००॥
अङ्गिराश्चैव त्रितश्च भरद्वाजोऽथ लक्ष्मणः। कृतवाचस्तथा गर्गः स्मृतिसङ्कृतिरेव च ॥१०१॥

* गतिके ज्ञान, मोक्ष और गमन यहाँ तीनों अर्थ विवक्षित हैं।

गुरुवीतश्च मान्धाता अम्बरीषस्तथैव च। युवनाश्वः पुरुकुत्सः स्वश्रवस्तु सदस्यवान् ॥१०२॥
अजमीढोऽस्वहार्यश्च ह्युत्कलः कविरेव च। पृषदश्वो विरूपश्च काव्यश्चैवाथ मुद्गलः ॥१०३॥
उतथ्यश्च शरद्वांश्च तथा वाजिश्रवा अपि। अपस्यौषः सुचित्तिश्च वामदेवस्तथैव च ॥१०४॥
ऋषिजो बृहच्छुक्लश्च ऋषिर्दीर्घतमा अपि। कक्षीवांश्च त्रयस्त्रिंशत् स्मृता ह्यङ्गिरसां पराः ॥१०५॥
एते मन्त्रकृतः सर्वे काश्यपांस्तु निबोधत। कश्यपः सहवत्सारो नैध्रुवो नित्य एव च ॥१०६॥
असितो देवलश्चैव षडेते ब्रह्मवादिनः। अत्रिरर्धस्वनश्चैव शावास्योऽथ गविष्ठिरः ॥१०७॥
कर्णकश्च ऋषिः सिद्धस्तथा पूर्वातिथिश्च यः ॥१०८॥
इत्येते त्वत्रयः प्रोक्ता मन्त्रकृत् षणमहर्षयः। वसिष्ठश्चैव शक्तिश्च तृतीयश्च पराशरः ॥१०९॥
ततस्तु इन्द्रप्रमितः पञ्चमस्तु भरद्वसुः। षष्ठस्तु मित्रवरुणः सप्तमः कुण्डिनस्तथा ॥११०॥
इत्येते सप्त विज्ञेया वासिष्ठा ब्रह्मवादिनः।

इसी प्रकार अब सभी मन्त्रकर्ता ऋषियोंका नाम पूर्णतया सुनिये। भृगु, काश्यप, प्रचेता, दधीचि, आत्मवान्, ऊर्व, जमदग्नि, वेद, सारस्वत, आर्ष्टिषेण, च्यवन, वीतिहव्य, वेधा, वैण्य, पृथु, दिवोदास, ब्रह्मवान्, गृत्स और शौनक—ये उन्नीस भृगुवंशी ऋषि मन्त्रकर्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। अङ्गिरा, त्रित, भरद्वाज, लक्ष्मण, कृतवाच, गर्ग, स्मृति, संकृति, गुरुवीत, मान्धाता, अम्बरीष, युवनाश्व, पुरुकुत्स, स्वश्रव, सदस्यवान्, अजमीढ, अस्वहार्य, उत्कल, कवि, पृषदश्व, विरूप, काव्य, मुद्गल, उतथ्य, शरद्वान्, वाजिश्रवा, अपस्यौष, सुचित्ति, वामदेव, ऋषिज, बृहच्छुक्ल, दीर्घतमा और कक्षीवान्—ये तैंतीस श्रेष्ठ ऋषि अङ्गिरागोत्रीय कहे जाते हैं। ये सभी मन्त्रकर्ता हैं। अब कश्यपवंशमें उत्पन्न होनेवाले ऋषियोंके नाम सुनिये। कश्यप, सहवत्सार, नैध्रुव, नित्य, असित और देवल—ये छः ब्रह्मवादी ऋषि हैं। अत्रि, अर्धस्वन, शावास्य, गविष्ठिर, सिद्धर्षि कर्णक और पूर्वातिथि—ये छः मन्त्रकर्ता महर्षि अत्रि-वंशोत्पन्न कहे गये हैं। वसिष्ठ, शक्ति, तीसरे पराशर, इन्द्रप्रमित, पाँचवें भरद्वसु, छठे मित्रावरुण तथा सातवें कुण्डिन—इन सात ब्रह्मवादी ऋषियोंको वसिष्ठवंशोत्पन्न जानना चाहिये॥

विश्वामित्रश्च गाधेयो देवरातस्तथा बलः ॥१११॥
तथा विद्वान् मधुच्छन्दा ऋषिश्चान्योऽघमर्षणः। अष्टको लोहितश्चैव भृतकीलस्तथाम्बुधिः ॥११२॥
देवश्रवा देवरातः पुराणश्च धनंजयः। शिशिरश्च महातेजाः शालङ्कायन एव च ॥११३॥
त्रयोदशैते विज्ञेया ब्रह्मिष्ठाः कौशिका वराः। अगस्त्योऽथ दृढद्युम्नो इन्द्रबाहुस्तथैव च ॥११४॥
ब्रह्मिष्ठागस्तयो ह्येते त्रयः परमकीर्तयः। मनुर्वैवस्वतश्चैव ऐलो राजा पुरूरवाः ॥११५॥
क्षत्रियाणां वरौ ह्येतौ विज्ञेयौ मन्त्रवादिनौ। भलन्दकश्च वासाश्वः संकीलश्चैव ते त्रयः ॥११६॥
एते मन्त्रकृतो ज्ञेया वैश्यानां प्रवराः सदा। इति द्विनवतिः प्रोक्ता मन्त्रा यैश्च बहिष्कृताः ॥११७॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या ऋषिपुत्रान् निबोधत। ऋषीकाणां सुता ह्येते ऋषिपुत्राः श्रुतर्षयः ॥११८॥

इति श्रीमात्स्ये महापुराणे मन्वन्तरकल्पवर्णनो नाम पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

गाधि-नन्दन विश्वामित्र, देवरात, बल, विद्वान् मधुच्छन्दा, अघमर्षण, अष्टक, लोहित, भृतकील, अम्बुधि, देवपरायण देवरात, प्राचीन ऋषि धनंजय, शिशिर तथा महान् तेजस्वी शालंकायन—इन तेरहोंको कौशिक-वंशोत्पन्न ब्रह्मवादी ऋषि समझना चाहिये। अगस्त्य, दृढद्युम्न तथा इन्द्रबाहु—ये तीनों परम यशस्वी ब्रह्मवादी ऋषि अगस्त्य-कुलमें उत्पन्न हुए हैं। विवस्वान्-पुत्र मनु तथा इला-नन्दन राजा पुरूरवा—क्षत्रिय-कुलमें उत्पन्न हुए इन दोनों राजर्षियोंको मन्त्रवादी जानना चाहिये। भलन्दक, वासाश्व और संकील—वैश्योंमें श्रेष्ठ इन तीनोंको मन्त्रकर्ता समझना चाहिये। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-कुलमें उत्पन्न हुए

वानवे ऋषियोंका वर्णन किया गया, जिन्होंने मन्त्रोंको प्रकट किया है। अब ऋषि-पुत्रोंके विषयमें सुनिये। ये ऋषिपुत्र जो श्रुतर्षि कहलाते हैं, ऋषियोंके पुत्र हैं ॥ १११–११८ ॥

इस प्रकार श्रीमत्स्यमहापुराणमें मन्वन्तरकल्पवर्णन नामक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥ १४५ ॥

एक सौ छियालीसवाँ अध्याय

वज्राङ्गकी उत्पत्ति, उसके द्वारा इन्द्रका बन्धन, ब्रह्मा और कश्यपद्वारा समझाये जानेपर इन्द्रको बन्धनमुक्त करना, वज्राङ्गका विवाह, तप तथा ब्रह्माद्वारा वरदान

ऋषय ऊचुः

कथं मत्स्येन कथितस्तारकस्य वधो महान्। कस्मिन् काले विनिर्वृत्ता कथेयं सूतनन्दन ॥ १ ॥
त्वन्मुखक्षीरसिन्धूत्था कथेयममृतात्मिका। कर्णाभ्यां पिबतां तृप्तिरस्माकं न प्रजायते ॥
इदं मुने समाख्याहि महाबुद्धे मनोगतम् ॥ २ ॥

ऋषियोंने पूछा—सूतनन्दन! मत्स्यभगवान्ने तारकासुरके वधरूप महान् कार्यका वर्णन किस प्रकार किया था? यह कथा किस समय कही गयी थी? मुने! आपके मुखरूपी क्षीरसागरसे उद्भूत हुई इस अमृतरूपिणी कथाका दोनों कानोंद्वारा पान करते हुए भी हमलोगोंको तृप्ति नहीं हो रही है। अतः महाबुद्धिमान् सूतजी! आप हमलोगोंके इस मनोऽभिलषित विषयका वर्णन कीजिये ॥ १–२ ॥

सूत उवाच

पृष्टस्तु मनुना देवो मत्स्यरूपी जनार्दनः। कथं शरवणे जातो देवः षड्वदनो विभो ॥ ३ ॥
एतत्तु वचनं श्रुत्वा पार्थिवस्यामितौजसः। उवाच भगवान् प्रीतो ब्रह्मसूनुर्महामतिम् ॥ ४ ॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! (प्राचीन कालकी बात है) राजर्षि मनुने मत्स्यरूपधारी भगवान् विष्णुसे प्रश्न किया—'विभो! षडानन स्वामिकार्तिकका जन्म सरपतके वनमें कैसे हुआ था?' उन अमिततेजस्वी राजर्षि मनुका प्रश्न सुनकर महातेजस्वी ब्रह्मपुत्र भगवान् मत्स्य प्रसन्नतापूर्वक बोले ॥ ३–४ ॥

मत्स्य उवाच

वज्राङ्गो नाम दैत्योऽभूत् तस्य पुत्रस्तु तारकः। सुरानुद्वासयामास पुरेभ्यः स महाबलः ॥ ५ ॥
ततस्ते ब्रह्मणोऽभ्याशं जग्मुर्भयनिपीडिताः। भीतांश्च त्रिदशान् दृष्ट्वा ब्रह्मा तेषामुवाच ह ॥ ६ ॥
संत्यजध्वं भयं देवाः शंकरस्यात्मजः शिशुः। तुहिनाचलदौहित्रस्तं हनिष्यति दानवम् ॥ ७ ॥
ततः काले तु कस्मिंश्चिद् दृष्ट्वा वै शैलजां शिवः। स्वरेतो वह्निवदने व्यसृजत् कारणान्तरे ॥ ८ ॥
तत् प्राप्तं वह्निवदने रेतो देवानतर्पयत्। विदार्य जठराण्येषामजीर्णं निर्गतं मुने ॥ ९ ॥
पतितं तत् सरिद्वरां ततस्तु शरकानने। तस्मात्तु स समुद्भूतो गुहो दिनकरप्रभः ॥ १० ॥
स सप्तदिवसो बालो निजघ्ने तारकासुरम्। एवं श्रुत्वा ततो वाक्यं तमूचुर्ऋषिसत्तमाः ॥ ११ ॥

मत्स्यभगवान्ने कहा—राजन्! (बहुत पहले) वज्राङ्ग नामका एक दैत्य उत्पन्न हुआ है, उसके पुत्रका नाम तारक था। उस महाबली तारकने देवताओंको उनके नगरोंसे निकालकर खदेड़ दिया। तब भयभीत हुए वे सभी देवगण ब्रह्माके निकट गये। उन देवताओंको डरा देखकर ब्रह्माने उनसे कहा—'देववृन्द! भय छोड़ दो। (शीघ्र ही) भगवान् शंकरके एक औरस पुत्र हिमाचलका दौहित्र (नाती) उत्पन्न होगा,

जो उस दानवका वध करेगा।' तदनन्तर किसी समय पार्वतीको देखकर शिवजीका वीर्य स्खलित हो गया, तब उन्होंने उसे किसी भावी कारणवश अग्निके मुखमें गिरा दिया। अग्निके मुखमें पड़े हुए उस वीर्यने देवताओंको तृप्त कर दिया, किंतु पच न सकनेके कारण वह उनके उदरको फाड़कर बाहर निकल पड़ा और नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गामें जा गिरा। फिर वहाँसे वह बहते हुए सरपतके वनमें जा लगा। उसीसे सूर्यके समान तेजस्वी गुह उत्पन्न हुए। उसी सात दिवसीय बालकने तारकासुरका वध किया। ऐसी अद्भुत बात सुनकर उन श्रेष्ठ ऋषियोंने पुनः सूतजीसे प्रश्न किया॥ ५–११॥

ऋषय ऊचुः

अत्याश्चर्यवती रम्या कथेयं पापनाशिनी। विस्तरेण हि नो ब्रूहि याथातथ्येन शृण्वताम्॥ १२॥
वज्राङ्गो नाम दैत्येन्द्रः कस्य वंशोद्भवः पुरा। यस्याभूत् तारकः पुत्रः सुरप्रमथनो बली॥ १३॥
निर्मितः को वधे चाभूत् तस्य दैत्येश्वरस्य तु। गुहजन्म तु कार्त्स्न्येन अस्माकं ब्रूहि मानद॥ १४॥

ऋषियोंने पूछा—सबको मान देनेवाले सूतजी! यह कथा तो अत्यन्त आश्चर्यसे परिपूर्ण, रमणीय और पापनाशिनी है। हमलोग इसे सुनना चाहते हैं, अतः आप हमलोगोंको इसे यथार्थरूपसे विस्तारपूर्वक बतलाइये। पूर्वकालमें देवताओंका मान मर्दन करनेवाला महाबली तारक जिसका पुत्र था, वह दैत्यराज वज्राङ्ग किसके वंशमें उत्पन्न हुआ था? उस दैत्यराजके वधके लिये कौन-सा कारण निर्मित हुआ था? यह सब तथा गुहके जन्मकी कथा हमलोगोंको पूर्णरूपसे बतलाइये॥ १२–१४॥

सूत उवाच

मानसो ब्रह्मणः पुत्रो दक्षो नाम प्रजापतिः। षष्टिं सोऽजनयत् कन्या वीरिण्यामेव नः श्रुतम्॥ १५॥
ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश। सप्तविंशति सोमाय चतस्रोऽरिष्टनेमये॥ १६॥
द्वे चैव बाहुकपुत्राय द्वे चैवाङ्गिरसे तथा। द्वे कृशाश्वाय विदुषे प्रजापतिसुतः प्रभुः॥ १७॥
अदितिर्दितिर्दनुर्विश्वा ह्यरिष्टा सुरसा तथा। सुरभिर्विनता चैव ताम्रा क्रोधवशा इरा॥ १८॥
कद्रूर्मुनिश्च लोकस्य मातरो गोषु मातरः। तासां सकाशाल्लोकानां जङ्गमस्थावरात्मनाम्॥ १९॥
जन्म नानाप्रकाराणां ताभ्योऽन्ये देहिनः स्मृताः। देवेन्द्रोपेन्द्रपूषाद्याः सर्वे तेऽदितिजा मताः॥ २०॥
दितेः सकाशाल्लोकास्तु हिरण्यकशिपादयः। दानवाश्च दनोः पुत्रा गावश्च सुरभीसुताः॥ २१॥
पक्षिणो विनतापुत्रा गरुडप्रमुखाः स्मृताः। नागाः कद्रूसुता ज्ञेयाः शेषाश्चान्येऽपि जन्तवः॥ २२॥
त्रैलोक्यनाथं शक्रं तु सर्वामरगणप्रभुम्। हिरण्यकशिपुश्चक्रे जित्वा राज्यं महाबलः॥ २३॥
ततः केनापि कालेन हिरण्यकशिपादयः। निहता विष्णुना संख्ये शेषाश्चेन्द्रेण दानवाः॥ २४॥
ततो निहतपुत्राभूद् दितिर्वरमयाचत। भर्तारं कश्यपं देवं पुत्रमन्यं महाबलम्॥ २५॥
समरे शक्रहन्तारं स तस्या अददात् प्रभुः॥ २६॥
नियमं वर्तं हे देवि सहस्रं शुचिमानसा। वर्षाणां लप्स्यसे पुत्रमित्युक्ता सा तथाकरोत्॥ २७॥
वर्तन्त्या नियमे तस्याः सहस्राक्षः समाहितः। उपासामाचरत् तस्याः सा चैनमन्वमन्यत॥ २८॥
दशवत्सरशेषस्य सहस्रस्य तदा दितिः। उवाच शक्रं सुप्रीता वरदा तपसि स्थिता॥ २९॥

सूतजी कहते हैं—ऋषियो! ब्रह्माके मानस पुत्र प्रजापति दक्षने वीरिणीके गर्भसे साठ कन्याएँ उत्पन्न की थीं, ऐसा हमने सुना है। उन ब्रह्मपुत्र सामर्थ्यशाली दक्षने उन कन्याओंमेंसे दस धर्मको, तेरह कश्यपको, सत्ताईस चन्द्रमाको, चार अरिष्टनेमिको, दो बाहुक-पुत्रको, दो अङ्गिराको तथा दो विद्वान् कृशाश्वको समर्पित कर दी थीं। अदिति, दिति, दनु, विश्वा, अरिष्टा, सुरसा, सुरभि, विनता, ताम्रा, क्रोधवशा, इरा, कद्रू

और मुनि—ये तेरह लोकमाताएँ कश्यपकी पत्नियाँ थीं। इन्हींसे पशुओंकी भी उत्पत्ति हुई है। इन्हींसे स्थावर-जङ्गमरूप नाना प्रकारके प्राणियोंका जन्म हुआ है। देवेन्द्र, उपेन्द्र और सूर्य आदि सभी देवता अदितिसे उत्पन्न माने जाते हैं। दितिके गर्भसे हिरण्यकशिपु आदि दैत्यगण उत्पन्न हुए। दनुके दानव और गौ आदि पशु सुरभीके संतान हुए। गरुड आदि पक्षी विनताके पुत्र कहे जाते हैं। नागों तथा अन्य रेंगनेवाले जन्तुओंको कद्रूकी संतति समझना चाहिये। कुछ समय बाद हिरण्यकशिपु समस्त देवगणोंके स्वामी त्रिलोकी नाथ इन्द्रको जीतकर राज्य करने लगा। तदनन्तर कुछ समय बीतनेपर हिरण्यकशिपु आदि दैत्यगण भगवान् विष्णुके हाथों मारे गये तथा शेष दानवोंका इन्द्रने युद्धस्थलमें सफाया कर दिया। इस प्रकार जब दितिके सभी पुत्र मार डाले गये, तब उसने अपने पतिदेव महर्षि कश्यपसे युद्धमें इन्द्रका वध करनेवाले अन्य महाबली पुत्रकी याचना की। तब सामर्थ्यशाली कश्यपजीने उसे वर प्रदान करते हुए कहा—'देवि! तुम एक हजार वर्षतक पवित्र मनसे नियमका पालन करो तो तुम्हें वैसा पुत्र प्राप्त होगा।' पतिद्वारा ऐसा कही जानेपर वह नियममें तत्पर हो गयी। जिस समय वह नियममें संलग्न थी, उस समय सहस्रनेत्रधारी इन्द्र उसके निकट आकर सावधानीपूर्वक उसकी सेवा करने लगे। यह देखकर उसने इन्द्रपर विश्वास कर लिया। जब एक सहस्र वर्षकी अवधिमें दस वर्ष शेष रह गये, तब तपस्यामें निरत वरदायिनी दिति परम प्रसन्न होकर इन्द्रसे बोली॥ १५-२९॥

दितिरुवाच

पुत्रोत्तीर्णव्रतां प्रायो विद्धि मां पाकशासन। भविष्यति च ते भ्राता तेन सार्धमिमां श्रियम्॥ ३०॥
भुङ्क्ष्व वत्स यथाकामं त्रैलोक्यं हतकण्टकम्। इत्युक्त्वा निद्रयाऽऽविष्टा चरणाक्रान्तमूर्धजा॥ ३१॥
स्वयं सुष्वाप नियता भाविनोऽर्थस्य गौरवात्। तत्तु रन्ध्रं समासाद्य जठरं पाकशासनः॥ ३२॥
चकार सप्तधा गर्भं कुलिशेन तु देवराट्। एकैकं तु पुनः खण्डं चकार मघवा ततः॥ ३३॥
सप्तधा सप्तधा कोपात्प्राबुध्यत ततो दितिः। विबुध्योवाच मा शक्र घातयेथाः प्रजां मम॥ ३४॥
तच्छ्रुत्वा निर्गतः शक्रः स्थित्वा प्राञ्जलिरग्रतः। उवाच वाक्यं संत्रस्तो मातुर्वै वदनेरितम्॥ ३५॥

दितिने कहा—पुत्र! अब तुम ऐसा समझो कि मैंने प्रायः अपने व्रतको पूर्ण कर लिया है। पाकशासन! (व्रतकी समाप्तिपर) तुम्हारे एक भाई उत्पन्न होगा। वत्स! उसके साथ तुम इस राजलक्ष्मी तथा निष्कण्टक त्रिलोकीके राज्यका इच्छानुसार उपभोग करना। ऐसा कहकर स्वयं दिति निद्राके वशीभूत हो सो गयी। उस समय भावी कार्यके गौरवके कारण वह अपने नियमसे च्युत हो गयी थी; क्योंकि (सोते समय) उसके खुले हुए बाल चरणोंसे दबे हुए थे। ऐसी त्रुटिपर अवसर पाकर देवराज इन्द्र दितिके उदरमें प्रविष्ट हो गये और अपने वज्रसे उस गर्भके सात टुकडे कर दिये। तत्पश्चात् इन्द्रने क्रुद्ध होकर पुनः प्रत्येक टुकड़ेको काटकर सात-सात भागोंमे विभक्त कर दिया। इतनेमें ही दितिकी निद्रा भंग हो गयी। तब वह सचेत होकर बोली—'अरे इन्द्र! मेरी संततिका विनाश मत कर।' यह सुनकर इन्द्र दितिके उदरसे बाहर निकल आये और अपनी उस विमाताके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये। फिर डरते-डरते मन्द स्वरसे यह वचन बोले—॥ ३०-३५॥

शक्र उवाच

दिवास्वप्नपरा मातः पादाक्रान्तशिरोरुहा। सप्तसप्तभिरेवातस्तव गर्भः कृतो मया॥ ३६॥
एकोनपञ्चाशत्कृता भागा वज्रेण ते सुताः। दास्यामि तेषां स्थानानि दिवि दैवतपूजिते॥ ३७॥
इत्युक्ता सा तदा देवी सैवमस्त्वित्यभाषत। पुनश्च देवी भर्तारमुवाचासितलोचना॥ ३८॥

पुत्रं प्रजापते देहि शक्रजेतारमूर्जितम्। यो नास्त्रशस्त्रैर्वध्यत्वं गच्छेत् त्रिदिववासिनाम् ॥३९॥
इत्युक्तः स तथोवाच तां पत्नीमतिदुःखिताम्। दशवर्षसहस्राणि तपः कृत्वा तु लप्स्यसे ॥ ४० ॥
वज्रसारमयैरङ्गैरच्छेद्यैरायसैर्दृढैः। वज्राङ्गो नाम पुत्रस्ते भविता पुत्रवत्सले ॥ ४१ ॥
सा तु लब्धवरा देवी जगाम तपसे वनम्। दशवर्षसहस्राणि सा तपो घोरमाचरत् ॥ ४२ ॥
तपसोऽन्ते भगवती जनयामास दुर्जयम्। पुत्रमप्रतिकर्माणमजेयं वज्रदुश्छिदम् ॥ ४३ ॥
स जातमात्र एवाभूत् सर्वशस्त्रास्त्रपारगः। उवाच मातरं भक्त्या मातः किं करवाण्यहम्॥ ४४ ॥
तमुवाच ततो दृष्टा दितिर्दैत्याधिपं च सा। बहवो मे हताः पुत्राः सहस्राक्षेण पुत्रक ॥ ४५ ॥
तेषां त्वं प्रतिकर्तुं वै गच्छ शक्रवधाय च। बाढमित्येव तामुक्त्वा जगाम त्रिदिवं बली ॥ ४६ ॥
बद्ध्वा ततः सहस्राक्षं पाशेनामोघवर्चसा। मातुरन्तिकमागच्छद्व्याघ्रः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ४७ ॥
एतस्मिन्नन्तरे ब्रह्मा कश्यपश्च महातपाः। आगतौ तत्र यत्रास्तां मातापुत्रावभीतकौ ॥ ४८ ॥

इन्द्रने कहा—माँ! आप दिनमें सो रही थीं और आपके बाल पैरोंके नीचे दबे हुए थे, इस नियम-च्युतिके कारण मैंने आपके गर्भको सात भागोंमें, पुनः प्रत्येकको सात भागोंमें विभक्त कर दिया है। इस प्रकार मैंने आपके पुत्रोंको उनचास भागोंमें बाँट दिया है। अब मैं उन्हें देवताओंद्वारा पूजित स्वर्गलोकमें स्थान प्रदान करूँगा। तब ऐसा उत्तर पानेपर देवी दितिने कहा—'अच्छा, ऐसा ही हो।' तदनन्तर कजरारे नेत्रोंवाली दिति देवीने पुनः अपने पति महर्षि कश्यपसे याचना की—'प्रजापते! मुझे एक ऐसा ऊर्जस्वी पुत्र प्रदान कीजिये, जो इन्द्रको पराजित करनेमें समर्थ हो तथा स्वर्गवासी देवगण अपने शस्त्रास्त्रोंसे जिसका वध न कर सकें।' इस प्रकार कहे जानेपर महर्षि कश्यप अपनी उस अत्यन्त दुःखिया पत्नीसे बोले—'पुत्रवत्सले! दस हजार वर्षतक तपस्या करनेके उपरान्त तुम्हें पुत्रकी प्राप्ति होगी। तुम्हारे गर्भसे वज्राङ्ग नामका पुत्र उत्पन्न होगा। उसके अङ्ग वज्रके सार-तत्त्वके समान सुदृढ़ और लौहनिर्मित शस्त्रास्त्रोंद्वारा अच्छेद्य होंगे।' इस प्रकार वरदान पाकर दिति देवी तपस्या करनेके लिये वनमें चली गयीं। वहाँ उन्होंने दस हजार वर्षोंतक घोर तप किया। तपस्या समाप्त होनेपर ऐश्वर्यवती दितिने एक ऐसे पुत्रको उत्पन्न किया, जो दुर्जय, अद्भुतकर्मा और अजेय था तथा जिसके अङ्ग वज्रद्वारा अच्छेद्य थे। वह जन्म लेते ही समस्त शस्त्रास्त्रोंका पारगामी विद्वान् हो गया। उसने भक्तिपूर्वक अपनी माता दितिसे कहा—'माँ! मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' तब हर्षित हुई दितिने उस दैत्यराजसे कहा—'बेटा! इन्द्रने मेरे बहुत-से पुत्रोंको मार डाला है, अतः उनका बदला लेनेके लिये तुम जाओ और इन्द्रका वध करो।' तब 'बहुत अच्छा' ऐसा मातासे कहकर महाबली वज्राङ्ग स्वर्गलोकमें जा पहुँचा। वहाँ उसने अपने अमोघवर्चस्वी पाशसे सहस्रनेत्रधारी इन्द्रको बाँधकर माताके निकट लाकर उसी प्रकार खड़ा कर दिया, जैसे व्याघ्र छोटे-से मृगको पकड़ लेता है। इसी बीच ब्रह्मा और महातपस्वी महर्षि कश्यप—ये दोनो वहाँ आ पहुँचे, जहाँ वे दोनों माता-पुत्र निर्भय हुए स्थित थे ॥ ३९—४८ ॥

दृष्ट्वा तु तमुवाचेदं ब्रह्मा कश्यप एव च। मुञ्चैनं पुत्र देवेन्द्रं किमनेन प्रयोजनम् ॥ ४९ ॥
अपमानो वधः प्रोक्तः पुत्र सम्भावितस्य च। अस्मद्वाक्येन यो मुक्तो विद्धि तं मृतमेव च ॥ ५० ॥
परस्य गौरवान्मुक्तः शत्रूणां भारमावहेत्। जीवन्नेव मृतो वत्स दिवसे दिवसे स तु ॥ ५१ ॥
महतां वशमायाते वैरं नैवास्ति वैरिणि। एतच्छ्रुत्वा तु वज्राङ्गः प्रणतो वाक्यमब्रवीत् ॥ ५२ ॥
न मे कृत्यमनेनास्ति मातुराज्ञा कृता मया। त्वं सुरासुरनाथो वै मम च प्रपितामहः ॥ ५३ ॥
करिष्ये त्वद्वचो देव एष मुक्तः शतक्रतुः। तपसे मे रतिर्देव निर्विघ्नं चैव मे भवेत् ॥ ५४ ॥
त्वत्प्रसादेन भगवन्नित्युक्त्वा विरराम सः। तस्मिंस्तूष्णीं स्थिते दैत्ये प्रोवाचेदं पितामहः ॥ ५५ ॥

वहाँ (इन्द्रको बँधा हुआ) देखकर ब्रह्मा और कश्यपने उस वज्राङ्गसे इस प्रकार कहा—'पुत्र ! इन देवराजको छोड़ दे । इनको बाँधने अथवा मारनेसे तेरा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? बेटा ! सम्मानित पुरुषका अपमान ही उसकी मृत्युसे बढ़कर बतलाया गया है । हमलोगोंके कहनेसे जो बन्धनमुक्त हो रहा है, उसे तू मरा हुआ ही जान । वत्स ! दूसरेके गौरवसे मुक्त हुआ मनुष्य शत्रुओंका भारवाही अर्थात् आभारी हो जाता है । उसे दिन-प्रतिदिन जीते हुए मृतक-तुल्य ही समझना चाहिये । शत्रुके वशमें आ जानेपर महान् पुरुषोंका शत्रुके प्रति वैरभाव नहीं रह जाता ।' यह सुनकर वज्राङ्ग विनम्र होकर कहने लगा—'देव ! इन्द्रको बाँधनेसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । यह तो मैंने माताकी आज्ञाका पालन किया है । आप तो देवताओं और असुरोंके स्वामी तथा मेरे प्रपितामह हैं, अतः मैं अवश्य आपकी आज्ञाका पालन करूँगा । यह लीजिये, इन्द्र बन्धन-मुक्त हो गये । देव ! मेरे मनमें तपस्या करनेके लिये बड़ी लालसा है । भगवन् ! वह आपकी कृपासे निर्विघ्न पूरा हो जाय ।' ऐसा कहकर वह चुप हो गया । तब उस दैत्यको चुपचाप सामने स्थित देखकर ब्रह्मा इस प्रकार बोले— ॥ ४९–५५ ॥

ब्रह्मोवाच

तपस्त्वं क्रूरमापन्नो ह्यस्मच्छासनसंस्थितः । अनया चित्तशुद्ध्या ते पर्याप्तं जन्मनः फलम् ॥ ५६ ॥
इत्युक्त्वा पद्मजः कन्यां ससर्जायतलोचनाम् । तामस्मै प्रददौ देवः पत्न्यर्थं पद्मसम्भवः ॥ ५७ ॥
वराङ्गीति च नामास्याः कृत्वा यातः पितामहः । वज्राङ्गोऽपि तया सार्धं जगाम तपसे वनम् ॥ ५८ ॥
ऊर्ध्वबाहुः स दैत्येन्द्रोऽचरदब्दसहस्रकम् । कालं कमलपत्राक्षः शुद्धबुद्धिर्महातपाः ॥ ५९ ॥
तावच्चावाङ्मुखः कालं तावत्पञ्चाग्निमध्यगः । निराहारो घोरतपास्तपोराशिरजायत ॥ ६० ॥
ततः सोऽन्तर्जले चक्रे कालं वर्षसहस्रकम् । जलान्तरं प्रविष्टस्य तस्य पत्नी महाव्रता ॥ ६१ ॥
तस्यैव तीरे सरसस्तप्यन्ती मौनमास्थिता । निराहारा तपो घोरं प्रविवेश महाद्युतिः ॥ ६२ ॥
तस्यां तपसि वर्तन्त्यामिन्द्रश्चक्रे विभीषिकाम् ।

ब्रह्माने कहा—बेटा ! (तूने) जो मेरी आज्ञाका पालन किया है, यही मानो तूने घोर तप कर लिया । इस चित्तशुद्धिसे तुझे अपने जन्मका फल प्राप्त हो गया । ऐसा कहकर पद्मयोनि भगवान् ब्रह्माने एक विशाल नेत्रोंवाली कन्याकी सृष्टि की और उसे वज्राङ्गको पत्नी-रूपमें प्रदान कर दिया । पुनः उस कन्याका वराङ्गी नाम रखकर ब्रह्मा वहाँसे चले गये । तत्पश्चात् वज्राङ्ग भी अपनी पत्नी वराङ्गीके साथ तपस्या करनेके लिये वनमें चला गया । वहाँ महातपस्वी दैत्यराज वज्राङ्ग, जिसके नेत्र कमलदलके समान थे तथा जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गयी थी, एक हजार वर्षतक दोनों हाथ ऊपर उठाकर तपस्या करता रहा । पुनः उसने एक हजार वर्षतक नीचे मुख किये हुए तथा एक हजार वर्षतक पञ्चाग्निके बीचमें बैठकर घोर तपस्या की । उस समय उसने भोजनका परित्याग कर दिया था । इस प्रकार वह तपस्याकी राशि-जैसा हो गया था । तत्पश्चात् उसने एक हजार वर्षतक जलके भीतर बैठकर तप किया । जिस समय वह जलके भीतर प्रविष्ट होकर तप कर रहा था, उसी समय उसकी अत्यन्त सुन्दरी एवं महाव्रतपरायणा पत्नी वराङ्गी भी उसी सरोवरके तटपर मौन धारणकर तपस्या करती हुई घोर तपमें संलग्न हो गयी । उस समय वह निराहार ही रहती थी । उसके तपस्या करते समय (उसे तपसे डिगानेके निमित्त) इन्द्र तरह-तरहकी विभीषिकाएँ उत्पन्न करने ॥ ५६–६२ ॥

भूत्वा तु मर्कटस्तत्र तदाश्रमपदं महान् ॥ ६३ ॥
चक्रे विलोलं निःशेषं तुम्बीघटकरण्डकम् । ततस्तु मेषरूपेण कम्पं तस्याकरोन्महान् ॥ ६४ ॥
ततो भुजङ्गरूपेण बध्वा च चरणद्वयम् । अपाकर्षत् ततो दूरं भ्रमंस्तस्या महीमिमाम् ॥ ६५ ॥
तपोबलाढ्या सा तस्य न वध्यत्वं जगाम ह । ततो गोमायुरूपेण तस्यादूषयदाश्रमम् ॥ ६६ ॥
ततस्तु मेघरूपेण तस्याः क्लेदयदाश्रमम् । भीषिकाभिरनेकाभिस्तां क्लिश्यन् पाकशासनः ॥ ६७ ॥
विरराम यदा नैवं वज्राङ्गमहिषी तदा । शैलस्य दुष्टतां मत्वा शापं दातुं व्यवस्थिता ॥ ६८ ॥
स शापाभिमुखीं दृष्ट्वा शैलः पुरुषविग्रहः । उवाच तां वरारोहां वराङ्गीं भीरुचेतनः ॥ ६९ ॥
नाहं वराङ्गने दुष्टः सेव्योऽहं सर्वदेहिनाम् । विभ्रमं तु करोत्येष रुषितः पाकशासनः ॥ ७० ॥
एतस्मिन्नन्तरे जातः कालो वर्षसहस्रिकः ।
तस्मिन् गते तु भगवान् काले कमलसम्भवः । तुष्टः प्रोवाच वज्राङ्गं तमागम्य जलाश्रयम् ॥ ७१ ॥

वे बन्दरका विशाल रूप धारणकर उसके आश्रमपर पहुँच और वहाँके सम्पूर्ण तुंबी, घट और पिटारी आदिको तितर-बितर कर दिया। फिर मेष-रूपसे उसे भलीभाँति कँपाया। तत्पश्चात् सर्पका रूप बनाकर उसके दोनो चरणोको अपने शरीरसे बाँधकर इस पृथ्वीपर घूमते हुए उसे दूरतक घसीटते रहे, किंतु वराङ्गी तपोबलसे सम्पन्न थीं, अतः इन्द्रद्वारा मारी न जा सकी। तब इन्द्रने शृगालका रूप धारणकर उसके आश्रमको दूषित कर दिया। फिर उन्होने बादल बनकर उसके आश्रमको भिगो दिया। इस प्रकार इन्द्र अनेकों प्रकारकी विभीषिकाओंको दिखाकर उसे कष्ट पहुँचाते रहे। जब इन्द्र इस प्रकारके कुकर्मसे विरत नहीं हुए, तब वज्राङ्गकी पटरानी वराङ्गी इसे पर्वतकी दुष्टता मानकर उसे शाप देनेके लिये उद्यत हो गयी। इस प्रकार उसे शाप देनेके लिये उद्यत देखकर पर्वतका हृदय भयभीत हो गया। तब उसने पुरुषका शरीर धारणकर उस सुन्दरी वराङ्गीसे कहा—'वराङ्गने! मैं दुष्ट नहीं हूँ। मैं तो सभी देहधारियोंके लिये सेवनीय हूँ। यह सब उपद्रव तो ये क्रुद्ध हुए इन्द्र कर रहे हैं।' इसी बीच (जलके भीतर बैठकर तपस्या करते हुए वज्राङ्गका) एक हजार वर्ष पूरा हो गया। उस समयके पूर्ण हो जानेपर पद्मसम्भव भगवान् ब्रह्मा प्रसन्न होकर उस जलाशयके तटपर आये और वज्राङ्गसे बोले ॥ ६३–७१ ॥

ब्रह्मोवाच

ददामि सर्वकामांस्ते उत्तिष्ठ दितिनन्दन ।
एवमुक्तस्तदोत्थाय दैत्येन्द्रस्तपसां निधिः । उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं सर्वलोकपितामहम् ॥ ७२ ॥

ब्रह्माने कहा—दितिनन्दन! उठो। मैं तुम्हें तुम्हारी सारी मनोवाञ्छित वस्तुएँ दे रहा हूँ। ऐसा कहे जानेपर तपोनिधि दैत्यराज वज्राङ्ग उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्मासे इस प्रकार कहा ॥

वज्राङ्ग उवाच

आसुरो मास्तु मे भावः सन्तु लोका ममाक्षयाः । तपस्येव रतिर्मेऽस्तु शरीरस्यास्तु वर्तनम् ॥ ७३ ॥
एवमस्त्विति तं देवो जगाम स्वकमालयन् । वज्राङ्गोऽपि समाप्ते तु तपसि स्थिरसंयमः ॥ ७४ ॥
आहारमिच्छन्भार्यां स्वां न ददर्शाश्रमे स्वके । क्षुधाविष्टः स शैलस्य गहनं प्रविवेश ह ॥ ७५ ॥
आदातुं फलमूलानि स च तस्मिन् व्यलोकयत् ।
रुदतीं तां प्रियां दीनां तनुप्रच्छादिताननाम् । तां विलोक्य स दैत्येन्द्रः प्रोवाच परिसान्त्वयन् ॥ ७६ ॥

वज्राङ्गने माँगा—देव! मेरे शरीरमें आसुर भावका संचार मत हो, मुझे अक्षय लोकोंकी प्राप्ति हो। तपस्यामें ही मेरी रति हो और मेरा यह शरीर वर्तमान रहे। 'एवमस्तु—ऐसा ही हो' ऐसा कहकर भगवान् ब्रह्मा